राजस्थान की
रजत बूंदें
पर्यावरण कक्ष ◆ गांधी शांति प्रतिष्ठान

पर्यावरण कक्ष, गांधी शांति प्रतिष्ठान
नई दिल्ली

आलेख और चित्र : अनुपम मिश्र
शोध और संयोजन : शीना और मंजुश्री मिश्र
सज्जा और रेखांकन : दिलीप चिंचालकर
आवरण चित्र : टोडा रायसिंह की बावड़ी, टौंक

मई १९९५

मूल्य : दो सौ रुपए
प्रकाशक : गांधी शांति प्रतिष्ठान, २२१ दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली ११०००२
टाइपसेट : अक्षरश्री, ४/१, बाजार गली, विश्वास नगर, दिल्ली ११००३२
मुद्रक : सहारा इंडिया मास कम्युनिकेशन, सी-३, सैक्टर ११, नोएडा

इस विषय पर अनुपम मिश्र को सन् १९९२ - ९३ में
के. के. बिड़ला फाउंडेशन की ओर से शोधवृत्ति मिली थी

कहते हैं...
मरुभूमि के समाज को
श्रीकृष्ण ने वरदान दिया
कि यहाँ कभी जल का अकाल
नहीं रहेगा।
प्रसंग महाभारत युद्ध
समाप्त होने का है।
लेकिन मरुभूमि का समाज
इस वरदान को पाकर हाथ पर हाथ
रखकर नहीं बैठ गया। उसने अपने को
पानी के मामले में तरह-तरह से
संगठित किया। गांव-गांव, शहर-शहर
वर्षा की बूंदों को सहेज कर रखने के
तरीके खोजे और जगह-जगह इनको
बनाने का एक बहुत ही व्यावहारिक,
व्यवस्थित और विशाल संगठन खड़ा
किया। इतना विशाल कि पूरा समाज
उसमें एक जी हो गया। इसका आकार
इतना बड़ा कि वह सचमुच निराकार
हो गया।
मरुभूमि के समाज ने भगवान के वरदान को
एक आदेश की तरह शिरोधार्य
कर लिया।

सेवण और रेत
का समुद्र

पधारो म्हारे देस

कभी यहां समुद्र था। लहरों पर लहरें उठती रही थीं। काल की लहरों ने उस अथाह समुद्र को न जाने क्यों और कैसे सुखाया होगा। अब यहां रेत का समुद्र है। लहरों पर लहरें अभी भी उठती हैं।

प्रकृति के एक विराट रूप को दूसरे विराट रूप में — समुद्र से मरुभूमि में बदलने में लाखों बरस लगे होंगे। नए रूप को आकार लिए भी आज हजारों बरस हो चुके हैं। लेकिन राजस्थान का समाज यहां के पहले रूप को भूला नहीं है। वह अपने मन की गहराई में आज भी उसे हाकड़ो नाम से याद रखे है। कोई हजार बरस पुरानी डिंगल भाषा में और आज की राजस्थानी में भी हाकड़ो शब्द उन पीढ़ियों की लहरों में तैरता रहा है, जिनके पुरखों ने भी कभी समुद्र नहीं देखा था।

आज के मारवाड़ के पश्चिम में लाखों बरस पहले रहे हाकड़ो के अलावा

राजस्थान के मन में समुद्र के और भी कई नाम हैं । संस्कृत से विरासत में मिले सिंधु, सरितापति, सागर, वाराधिप तो हैं ही, आच, उअह, देधाण, वडनीर, वारहर, सफरा-भडार जैसे संबोधन भी हैं । एक नाम हेल भी है और इसका अर्थ समुद्र के साथ-साथ विशालता और उदारता भी है ।

यह राजस्थान के मन की उदारता ही है कि विशाल मरुभूमि में रहते हुए भी उसके कंठ में समुद्र के इतने नाम मिलते हैं । इसकी दृष्टि भी बड़ी विचित्र रही होगी । सृष्टि की जिस घटना को घटे हुए ही लाखों बरस हो चुके, जिसे घटने में भी हजारों बरस लगे, उस सबका जमा घटा करने कोई बैठे तो आंकड़ों के अनंत विस्तार के अंधेरे में खो जाने के सिवा और क्या हाथ लगेगा । खगोलशास्त्री लाखों, करोड़ों मील की दूरियों को 'प्रकाश वर्ष' से नापते हैं । लेकिन राजस्थान के मन ने तो युगों के भारी भरकम गुना-भाग को पलक झपक कर निपटा दिया — इस बड़ी घटना को वह 'पलक दरियाव' की तरह याद रखे है — पलक झपकते ही दरिया का सूख जाना भी इसमें शामिल है और भविष्य में इस सूखे स्थल का क्षण भर में फिर से दरिया बन जाना भी ।

समय की अंतहीन धारा को क्षण-क्षण में देखने और विराट, विस्तार को अणु में परखने वाली इस पलक ने, दृष्टि ने हाकड़ो को खो दिया । पर उसके जल को, कण-कण को, बूंदों में देख लिया । इस समाज ने अपने को कुछ इस रीति से ढाल लिया कि अखंड समुद्र खंड-खंड होकर ठांव-ठांव यानी जगह-जगह फैल गया ।

चौथी हिंदी की पाठ्य पुस्तकों से लेकर देश के योजना आयोग तक राजस्थान की, विशेषकर मरुभूमि की छवि एक सूखे, उजड़े और पिछड़े क्षेत्र की है । थार रेगिस्तान का वर्णन तो कुछ ऐसा मिलेगा कि कलेजा सूख जाए । देश के सभी राज्यों में क्षेत्रफल के आधार पर मध्यप्रदेश के बाद दूसरा सबसे बड़ा राज्य राजस्थान आबादी की गिनती में नौवां है, लेकिन भूगोल की सब किताबों में वर्षा के मामले में सबसे अंतिम है ।

वर्षा को पुराने इंच में नापें या नए सेंटीमीटर में, वह यहां सबसे कम ही गिरती है । यहां पूरे बरस भर में वर्षा ६० सेंटीमीटर का औसत लिए है । देश की औसत वर्षा ११० सेंटीमीटर आंकी गई है । उस हिसाब से भी राजस्थान का औसत आधा ही बैठता है । लेकिन औसत बताने वाले आंकड़े भी यहां का कोई ठीक चित्र नहीं दे सकते । राज्य में एक छोर से दूसरे छोर तक कभी भी एक सी वर्षा नहीं होती । कहीं यह १०० सेंटीमीटर से अधिक है तो कहीं २५ सेंटीमीटर से भी कम ।

भूगोल की किताबें वर्षा को 'कंजूस महाजन' की तरह देखती हैं

भूगोल की किताबें प्रकृति को, वर्षा को यहां 'अत्यन्त कंजूस' महाजन की तरह देखती हैं और राज्य के पश्चिमी क्षेत्र को इस महाजन का सबसे दयनीय शिकार बताती हैं । इस क्षेत्र में जैसलमेर, बीकानेर, चुरू, जोंधपुर और श्रीगंगानगर आते हैं । लेकिन यहां कंजूसी में भी कंजूसी मिलेगी । वर्षा का 'वितरण' बहुत असमान है । पूर्वी हिस्से से पश्चिमी हिस्से की तरफ आते-आते वर्षा कम से कम होती जाती है । पश्चिम तक जाते-जाते वर्षा सूरज की तरह 'डूबने' लगती है । यहां पहुंच कर वर्षा सिर्फ १६ सेंटीमीटर रह जाती है । इस मात्रा की तुलना कीजिए दिल्ली से, जहां १५० सेंटीमीटर से ज्यादा पानी गिरता है, तुलना कीजिए उस गोवा से, कोंकण से, चेरापूंजी से, जहां यह आंकड़ा ५०० से १००० सेंटीमीटर तक जाता है ।

मरुभूमि में सूरज गोवा, चेरापूंजी की वर्षा की तरह बरसता है। पानी कम और गरमी ज्यादा — ये दो बातें जहां मिल जाएं वहां जीवन दूभर हो जाता है, ऐसा माना जाता है। दुनिया के बाकी मरुस्थलों में भी पानी लगभग इतना ही गिरता है, गरमी लगभग इतनी ही पड़ती है। इसलिए वहां बसावट बहुत कम ही रही है। लेकिन राजस्थान के मरुप्रदेश में दुनिया के अन्य ऐसे प्रदेशों की तुलना में न सिर्फ बसावट ज्यादा है, उस बसावट में जीवन की सुगंध भी है। यह इलाका दूसरे देशों के मरुस्थलों की तुलना में सबसे जीवंत माना गया है।

इसका रहस्य यहां के समाज में है। राजस्थान के समाज ने प्रकृति से मिलने वाले इतने कम पानी का रोना नहीं रोया। उसने इसे एक चुनौती की तरह लिया और अपने को ऊपर से नीचे तक कुछ इस ढंग से खड़ा किया कि पानी का स्वभाव समाज के स्वभाव में बहुत सरल, तरल ढंग से बहने लगा।

इस 'सवाई' स्वभाव से परिचित हुए बिना यह कभी समझ में नहीं आएगा कि यहां पिछले एक हजार साल के दौर में जैसलमेर, जोधपुर, बीकानेर और फिर जयपुर जैसे बड़े शहर भी बहुत सलीके के साथ कैसे बस सके थे। इन शहरों की आबादी भी कोई कम नहीं थी। इतने कम पानी के इलाके में होने के बाद भी इन शहरों का जीवन देश के अन्य शहरों के मुकाबले कोई कम सुविधाजनक नहीं था। इनमें से हरेक शहर अलग-अलग दौर में लंबे समय तक सत्ता, व्यापार और कला का प्रमुख केंद्र भी बना रहा था। जब बंबई, कलकत्ता, मद्रास जैसे आज के बड़े शहरों की 'छठी' भी नहीं हुई थी तब जैसलमेर आज के ईरान, अफगानिस्तान से लेकर रूस तक के कई भागों से होने वाले व्यापार का एक बड़ा केन्द्र बन चुका था।

जीवन की, कला की, व्यापार की, संस्कृति की ऊंचाइयों को राजस्थान के समाज ने अपने जीवन-दर्शन की एक विशिष्ट गहराई के कारण ही छुआ था। इस जीवन-दर्शन में पानी का काम एक बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखता था। सचमुच धेले भर के विकास के इस नए दौर ने पानी की इस भव्य परंपरा का कुछ क्षय जरूर किया है, पर वह उसे आज भी पूरी तरह तोड़ नहीं सका है। यह सौभाग्य ही माना जाना चाहिए।

पानी के काम में यहां भाग्य भी है और कर्तव्य भी। वह भाग्य ही तो था कि महाभारत युद्ध समाप्त हो जाने के बाद श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र से अर्जुन को साथ लेकर वापस द्वारिका इसी रास्ते से लौटे थे। उनका रथ मरुदेश पार कर रहा था।

आज के जैसलमेर के पास त्रिकूट पर्वत पर उन्हें उत्तुंग ऋषि तपस्या करते हुए मिले थे । श्रीकृष्ण ने उन्हें प्रणाम किया था और उनके तप से प्रसन्न होकर उन्हें वर मांगने कहा था। उत्तुंग का अर्थ है ऊंचा । ऋषि सचमुच बहुत ऊंचे थे । उन्होंने अपने लिए कुछ नहीं मांगा। प्रभु से प्रार्थना की कि "यदि मेरे कुछ पुण्य हैं तो भगवन वर दें कि इस क्षेत्र में कभी जल का अकाल न रहे ।"

"तथास्तु", भगवान ने वरदान दिया था ।

लेकिन मरुभूमि का भागवान समाज इस वरदान को पाकर हाथ पर हाथ रख कर नहीं बैठा । उसने अपने को पानी के मामले में तरह-तरह से कसा । गांव-गांव, ठांव-ठांव वर्षा को वर्ष भर सहेज कर रखने की रीति बनाई ।

रीति के लिए यहां एक पुराना शब्द वोज है । वोज यानी रचना, युक्ति और उपाय तो है ही, सामर्थ्य, विवेक और विनम्रता के लिए भी इस शब्द का उपयोग होता रहा है । वर्षा की बूंदों को सहेज लेने का वोज विवेक के साथ रहा है और विनम्रता लिए हुए भी । यहां के समाज ने वर्षा को इंच या सेंटीमीटर में नहीं, अंगुलों या बित्तों में भी नहीं, बूंदों में मापा होगा। उसने इन बूंदों को करोड़ों रजत बूंदों की तरह देखा और बहुत ही सजग ढंग से, वोज से इस तरल रजत की बूंदों को संजोकर, पानी की अपनी जरूरत को पूरा करने की एक ऐसी भव्य परंपरा बना ली, जिसकी धवलधारा इतिहास से निकल कर वर्तमान तक बहती है और वर्तमान को भी इतिहास बनाने का वोज यानी सामर्थ्य रखती है ।
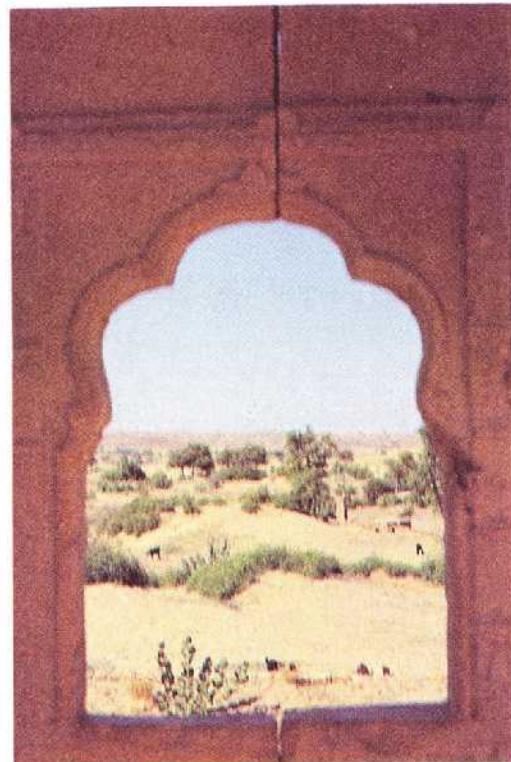
राजस्थान के पुराने इतिहास में मरुभूमि का या अन्य क्षेत्रों का भी वर्णन सूखे, उजड़े और एक अभिशप्त क्षेत्र की तरह नहीं मिलता । रेगिस्तान के लिए आज प्रचलित थार शब्द भी ज्यादा नहीं दिखता । अकाल पड़े हैं, कहीं-कहीं पानी का कष्ट भी रहा है पर गृहस्थों से लेकर जोगियों ने, कवियों से लेकर मांगणियारों ने, लंगाओं ने, हिंदू-मुसलमानों ने इसे 'धरती धोरां री' कहा है । रेगिस्तान के पुराने नामों में स्थल है, जो शायद हाकड़ो, समुद्र के सूख जाने से निकले स्थल का सूचक रहा हो । फिर स्थल का थल और महाथल बना और बोलचाल में थली और धरधूधल भी हुआ । थली तो एक बड़ी मोटी पहचान की तरह रहा है । बारीक पहचान में उसके अलग-अलग क्षेत्र अलग-अलग विशिष्ट नाम लिए थे । माड़, मारवाड़, मेवाड़, मेरवाड़, ढूंढार, गोडवाड़, हाडौती जैसे बड़े विभाजन तो दसरेक और धन्वदेश जैसे छोटे विभाजन भी थे । और इस विराट मरुस्थल के छोटे-बड़े राजा चाहे जितने रहे हों — नायक तो एक ही रहा है – श्रीकृष्ण । यहां उन्हें बहुत स्नेह के साथ मरुनायकजी की तरह पुकारा जाता है ।

मरुनायकजी का वरदान और फिर समाज के नायकों के वोज, सामर्थ्य का एक अनोखा संजोग हुआ । इस संजोग से वोजतो-ओजतो यानी हरेक द्वारा अपनाई जा सकने वाली सरल, सुंदर रीति को जनम मिला । कभी नीचे धरती पर क्षितिज तक पसरा हाकड़ो ऊपर आकाश में बादलों के रूप में उड़ने लगा था । ये बादल कम ही होंगे । पर समाज ने इनमें समाए जल को इंच या सेंटीमीटर में न देख अनगिनत बूंदों की तरह देख लिया और इन्हें मरुभूमि में, राजस्थान भर में ठीक बूंदों की तरह ही छिटके टांकों, कुंड-कुंडियों, बेरियों, जोहड़ों, नाडियों, तालाबों, बावड़ियों और कुएं, कुंइयों और पार में भर कर उड़ने वाले समुद्र को, अखंड हाकड़ो को खंड-खंड नीचे उतार लिया ।

जसढोल, यानी प्रशंसा करना । राजस्थान ने वर्षा के जल का संग्रह करने की अपनी अनोखी परंपरा का, उसके जस का कभी ढोल नहीं बजाया । आज देश के लगभग सभी छोटे-बड़े शहर, अनेक गांव, प्रदेश की राजधानियां और तो और देश की राजधानी तक खूब अच्छी वर्षा के बाद भी पानी जुटाने के मामले में बिलकुल कंगाल हो रही है । इससे पहले कि देश पानी के मामले में बिलकुल- 'ऊंचा' सुनने लगे, सूखे माने गए इस हिस्से राजस्थान में, मरुभूमि में फली-फूली जल संग्रह की भव्य परंपरा का जसढोल बजना ही चाहिए ।

पधारो म्हारे देस ।

माटी, जल और ताप की तपस्या

मरुभूमि में बादल की हल्की-सी रेखा दिखी नहीं कि बच्चों की टोली एक चादर लेकर निकल पड़ती है। आठ छोटे-छोटे हाथ बड़ी चादर के चार कोने पकड़ उसे फैला लेते हैं। टोली घर-घर जाती है और गाती है :

डेडरियो करे डरूं, डरूं,
पालर पानी भरूं भरूं
आधी रात री तलाई नेष्टेई नेष्टे ...

हर घर से चादर में मुट्ठी भर गेहूं डाला जाता है। कहीं-कहीं बाजरे का आटा भी। मोहल्ले की फेरी पूरी होते होते, चादर का वजन इतना हो जाता है कि आठ हाथ कम पड़ जाते हैं। चादर समेट ली जाती है। फिर यह टोली कहीं जमती है, अनाज उबाल कर उसकी गूगरी बनती है। कण-कण संग्रह बच्चों की टोली को तृप्त कर जाता है।

अब बड़ों की बारी है, बूंद-बूंद पानी जमा कर वर्ष भर तृप्त होने की। लेकिन राजस्थान में जल संग्रह की परंपरा समझने से पहले इस क्षेत्र से थोड़ा-सा परिचित हो जाना चाहिए।

राजस्थान की कुंडली कम से कम जल के मामले में 'मंगली' रही है। इसे अपने कौशल से मंगलमय बना लेना कोई सरल काम नहीं था। काम की कठिनता के अलावा क्षेत्र का विस्तार भी कोई कम नहीं था। आज का राजस्थान क्षेत्रफल के हिसाब से देश का दूसरा बड़ा राज्य है। देश के कुल क्षेत्रफल का लगभग ११ प्रतिशत भाग या कोई ३,४२,२१५ वर्ग किलोमीटर इसके विस्तार में आता है। इस हिसाब से दुनिया के कई देशों से भी बड़ा है हमारा यह प्रदेश। इंग्लैंड से तो लगभग दुगना ही समझिए।

पहले छोटी-बड़ी इक्कीस रियासतें थीं, अब इकतीस जिले हैं। इनमें से तेरह जिले अरावली पर्वतमाला के पश्चिम में और अन्य पूर्व में हैं। पश्चिमी भाग के तेरह जिलों के नाम इस प्रकार हैं : जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर, जोधपुर, जालौर, पाली, नागौर, चुरू, श्रीगंगानगर, सीकर, हनुमानगढ़, सिरोही तथा झुंझुनूं। पूर्व और दक्षिण में बांसवाड़ा,

डूंगरपुर, उदयपुर, कांकरोली, चित्तौड़गढ़, भीलवाड़ा, झालावाड़, कोटा, बारां, बूंदी, टौंक, सवाई माधोपुर, धौलपुर, दौसा, जयपुर, अजमेर, भरतपुर तथा अलवर जिले आते हैं। जैसलमेर राज्य का सबसे बड़ा जिला है। यह लगभग ३८,४०० वर्ग किलोमीटर में फैला है। सबसे छोटा जिला है धौलपुर जो जैसलमेर के दसवें भाग बराबर है।

आज के भूगोल वाले इस सारे हिस्से को चार भागों में बांटते है। मरुभूमि को पश्चिमी बालू का मैदान कहा जाता है या शुष्क क्षेत्र भी कहा जाता है। उससे लगी पट्टी अर्धशुष्क क्षेत्र कहलाती है। इसका पुराना नाम बागड़ था। फिर अरावली पर्वतमाला है और मध्यप्रदेश आदि से जुड़ा राज्य का भाग दक्षिणी-पूर्वी पठार कहलाता है। इन चार भागों में सबसे बड़ा भाग पश्चिमी बालू का मैदान यानी मरुभूमि का क्षेत्र ही है। इसका एक पूर्वी कोना उदयपुर के पास है, उत्तरी कोना पंजाब छूता है और दक्षिणी कोना गुजरात। पश्चिम में पूरा का पूरा भाग पाकिस्तान के साथ जुड़ा है।

ताप की तपस्या

मरुभूमि भी सारी मरुमय नहीं है। पर जो है, वह भी कोई कम नहीं। इसमें जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर, नागौर, चुरू और श्रीगंगानगर जिले समा जाते हैं। इन्हीं हिस्सों में रेत के बड़े-बड़े टीले हैं, जिन्हें धोरे कहा जाता है। गर्मी के दिनों में चलने वाली तेज आंधियों में ये धोरे 'पंख' लगा कर इधर से उधर उड़ चलते हैं। तब कई बार रेल की पटरियां, छोटी-बड़ी सड़कें और राष्ट्रीय मार्ग भी इनके नीचे दब जाते हैं। इसी भाग में वर्षा सबसे कम होती है। भूजल भी खूब गहराई पर है। प्रायः सौ से तीन सौ मीटर और वह भी ज्यादातर खारा है।

अर्धशुष्क कहलाने वाला भाग विशाल मरुभूमि और अरावली पर्वतमाला के बीच उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम तक लंबा फैला है। यहीं से वर्षा का

आंकड़ा थोड़ा ऊपर चढ़ता है। तब भी यह २५ सेंटीमीटर से ५० सेंटीमीटर के बीच झूलता है और देश की औसत वर्षा से आधा ही बैठता है। इस भाग में कहीं-कहीं दोमट मिट्टी है तो बाकी में वही चिर परिचित रेत। 'मरु विस्तार' को रोकने की तमाम राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय योजनाओं को धता बता कर आंधियां इस रेत को अरावली के दर्रों से पूर्वी भाग में भी ला पटकती हैं। ये छोटे-छोटे दर्रे ब्यावर, अजमेर और सीकर के पास हैं।

इस क्षेत्र में ब्यावर, अजमेर, सीकर, झुंझुनूं जिले हैं और एक तरफ नागौर, जोधपुर, पाली, जालौर और चुरू का कुछ भाग आता है। भूजल यहां भी सौ से तीन सौ मीटर

की गहराई लिए है और प्रायः खारा ही मिलता है ।

यहां के कुछ भागों में एक और विचित्र स्थिति है : पानी तो खारा है ही, जमीन भी 'खारी' है । ऐसे खारे हिस्सों के निचले इलाकों में खारे पानी की झीलें हैं । सांभर, डेगाना, डीडवाना, पचपदरा, लूणकरणसर, बाप, पोकरन और कुचामन की झीलों में तो बाकायदा नमक की खेती होती है । झीलों के पास मीलों दूर तक जमीन में नमक उठ आया है ।

इसी के साथ है पूरे प्रदेश को एक तिरछी रेखा से नापती विश्व की प्राचीनतम पर्वतमालाओं में से एक माला अरावली पर्वत की । ऊंचाई भले ही कम हो पर उमर में यह हिमालय से पुरानी है । इसकी गोद में हैं सिरोही, डूंगरपुर, उदयपुर, आबू, अजमेर और अलवर । उत्तर-पूर्व में यह दिल्ली को छूती है और दक्षिण-पश्चिम में गुजरात को । कुल लंबाई सात सौ किलोमीटर है और इसमें से लगभग साढ़े पांच सौ किलोमीटर राजस्थान को काटती है । वर्षा के मामले में राज्य का यह सम्पन्नतम इलाका माना जाता है ।

माटी और आकाश का बदलता स्वभाव

अरावली से उतर कर उत्तर में उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पूर्व तक फैला एक और भाग है । इसमें उदयपुर, डूंगरपुर के कुछ भाग के साथ-साथ बांसवाड़ा, भीलवाड़ा, बूंदी, टौंक, चित्तौड़गढ़, जयपुर और भरतपुर जिले हैं । मरुनायकजी यानी श्रीकृष्ण के जन्म स्थान ब्रज से सटा है भरतपुर । दक्षिणी-पूर्वी पठार भी इसमें फंसा दिखता है । इसमें कोटा, बूंदी, सवाई माधोपुर और धौलपुर हैं । धौलपुर से मध्यप्रदेश के बीहड़ शुरू हो जाते हैं ।

यहां जिस तरह नीचे माटी का स्वभाव बदलता है, इसी तरह ऊपर आकाश का भी स्वभाव बदलता जाता है ।

हमारे देश में वर्षा मानसूनी हवा पर सवार होकर आती है । मई-जून में पूरा देश तपता है । इस बढ़ते तापमान के कारण हवा का दबाव लगातार कम होता जाता है । उधर समुद्र में अधिक भार वाली हवा अपने साथ समुद्र की नमी बटोर कर कम दबाव वाले भागों की तरफ उड़ चलती है । इसी हवा को मानसून कहते हैं ।

राजस्थान के आकाश में मानसून की हवा दो तरफ से आती है । एक पास से, यानी अरब सागर से और दूसरी दूर बंगाल की खाड़ी से । दो तरफ से आए बादल भी यहां के कुछ हिस्सों में उतना पानी नहीं बरसा पाते, जितना वे रास्ते में हर कहीं बरसाते आते हैं ।

रेत और लवण : सांभर झील

दूर बंगाल की खाड़ी से उठने वाली मानसून की हवा गंगा का विशाल मैदान पार करते-करते अपनी सारी आर्द्रता खो बैठती है। राजस्थान तक आते-आते उसकी झोली में कुछ इतना बचता ही नहीं है कि वह राजस्थान को भी ठीक से पानी दे जा सके। अरब सागर से उठी मानसून की हवा जब यहां के तपते क्षेत्र में आती है तो यहां की गरमी से उसकी आर्द्रता आधी रह जाती है। इसमें पूरे प्रदेश को तिरछा काटने वाली अरावली की भी भूमिका है।

अरावली दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व में फैली है। मानसून की हवा भी इसी दिशा में बहती है। इसलिए मानसून की हवा अरावली पार कर पश्चिम के मरुप्रदेश में प्रवेश करने के बदले अरावली के समानांतर बहती हुई वर्षा करती चलती है। इस पर्वतमाला में सिरोही और आबू में खूब वर्षा होती है, कोई १५० सेंटीमीटर। यह मात्रा राज्य की औसत वर्षा से तिगुनी है। यह भाग अरावली के ऊंचे स्थानों में है, इसलिए मानसूनी हवा यहां टकरा कर अपना बचा खजाना खाली कर जाती है। और मरुभूमि को अरावली के

उस पार छोड़ कर चुक जाता है आज का भूगोल भी ।

लेकिन मरुभूमि के समाज की भाषा माटी, वर्षा और ताप की इस नई वैज्ञानिक परिभाषा से बिलकुल अलग है । इस समाज में माटी, वर्षा और ताप की तपस्या मिलेगी, और इस तप में जीवन का तेज भी है और शीतलता भी । फागुन महीने में होली पर अबीर-गुलाल के साथ ही यहां मरुनायकजी यानी श्रीकृष्ण पीली रेत उड़ाने लगते हैं । चैत माह आते-आते धरती तपने लगती है । नए भूगोल वाले जिस सूरज की गरमी से यहां सबसे ज्यादा आतंकित दिखते हैं, उस सूरज का यहां एक नाम पीथ है, और पीथ का एक अर्थ यहां जल भी है । सूरज ही तो धरती पर सारे जल चक्र का, वर्षा का स्वामी है ।

ऊभो भलो असाढ़
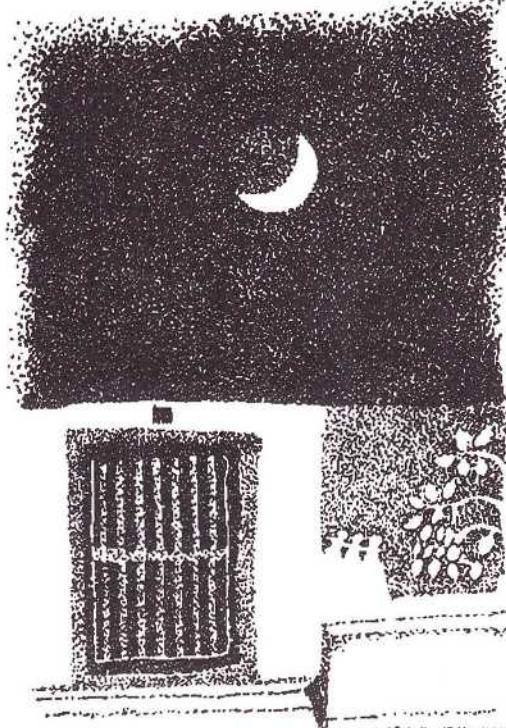
आषाढ़ के प्रारंभ में सूरज के चारों ओर दिखने वाला एक विशेष प्रभामंडल जलकूंडो कहलाता है । यह जलकूंडो वर्षा का सूचक माना जाता है । इन्हीं दिनों उदित होते सूर्य में माछलो, यानी मछली के आकार की एक विशेष किरण दिख जाए तो तत्काल वर्षा की संभावना मानी जाती है । समाज को वर्षा की जानकारी देने में चंद्रमा भी पीछे नहीं रहता । आषाढ़ में चंद्रमा की कला हल की तरह खड़ी रहे और श्रावण में वह विश्राम की मुद्रा में लेटी दिखे तो वर्षा ठीक होती है : ऊभो भलो अषाढ़, सूतो भलो सरावण । जलकूंडो, माछलो और चंद्रमा के रूपकों से भरा पड़ा है भडली पुराण । इस पुराण की रचना डंक नामक ज्योतिषाचार्य ने की थी । भडली उनकी पत्नी थीं, उन्हीं के नाम पर पुराण जाना जाता है । कहीं-कहीं दोनों को एक साथ याद किया जाता है । ऐसी जगहों में इसे डंक-भडली पुराण कहते हैं ।

बादल यहां सबसे कम आते हैं, पर बादलों के नाम यहां सबसे ज्यादा निकलें तो कोई अचरज नहीं । खड़ी बोली और बोली में ब और व के अंतर से, पुंलिंग, स्त्रीलिंग के अंतर से बादल का वादल और वादली, बादलो, बादली है, संस्कृत से बरसे जलहर, जीमूत, जलधर, जलवाह, जलधरण, जलद, घटा, क्षर (जल्दी नष्ट हो जाते हैं), सारंग, व्योम, व्योमचर, मेघ, मेघाडंबर, मेघमाला, मुदिर,

महीमंडल जैसे नाम भी हैं। पर बोली में तो बादल के नामों की जैसे घटा छा जाती है : भरणनद, पाथोद, धरमंडल, दादर, डंबर, दलवादल, घन, घणमंड, जलजाल, कालीकांठल, कालाहण, कारायण, कंद, हब्र, मैंमट, मेहाजल, मेघाण, महाघण, रामइयो और सेहर। बादल कम पड़ जाएं, इतने नाम हैं यहां बादलों के। बड़ी सावधानी से बनाई इस सूची में कोई भी ग्वाला चाहे जब दो-चार नाम और जोड़ देता है!

भाषा की और उसके साथ-साथ इस समाज की वर्षा-विषयक अनुभव-सम्पन्नता इन चालीस, चवालीस नामों में समाप्त नहीं हो जाती। वह इन बादलों का उनके आकार, प्रकार, चाल-ढाल, स्वभाव के आधार पर भी वर्गीकरण करती है : सिखर है बड़े बादलों का नाम तो छीतरी हैं छोटे-छोटे लहरदार बादल। छितराए हुए बादलों के झुंड में कुछ अलग-थलग पड़ गया छोटा-सा बादल भी उपेक्षा का पात्र नहीं है। उसका भी एक नाम है — चूंखो। दूर वर्षा के वे बादल जो ठंडी हवा के साथ उड़ कर आए हैं, उन्हें कोलायण कहा गया है। काले बादलों की घटा के आगे-आगे श्वेत पताका सी उठाए सफेद बादल कोरण या कागोलड़ हैं। और इस श्वेत पताका के बिना ही चली आई काली घटा कांठल या कलायण है।

आठ दिशाओं में उमड़ते बादल

इतने सारे बादल हों आकाश में तो चार दिशाएं उनके लिए बहुत कम ही होंगी। इसलिए दिशाएं आठ भी हैं और सोलह भी। इन दिशाओं में फिर कुछ स्तर भी हैं। और इस तरह ऊंचाई पर, मध्य में और नीचे उड़ने वाले बादलों को भी अलग-अलग नाम से पुकारा जाता है। पतले और ऊंचे बादल कस या कसवाड़ हैं। नैऋत कोण से ईशान कोण की ओर थोड़े नीचे तेज बहने वाले बादल ऊंब हैं। घटा का दिन भर छाए रहना, थोड़ा-थोड़ा बरसना सहाड़ कहलाता है। पश्चिम के तेज दौड़ने वाले बादलों की घटा लोरां है और उनसे लगातार होने वाली वर्षा लोरांझड़ है। लोरांझड़ वर्षा का एक गीत भी है।
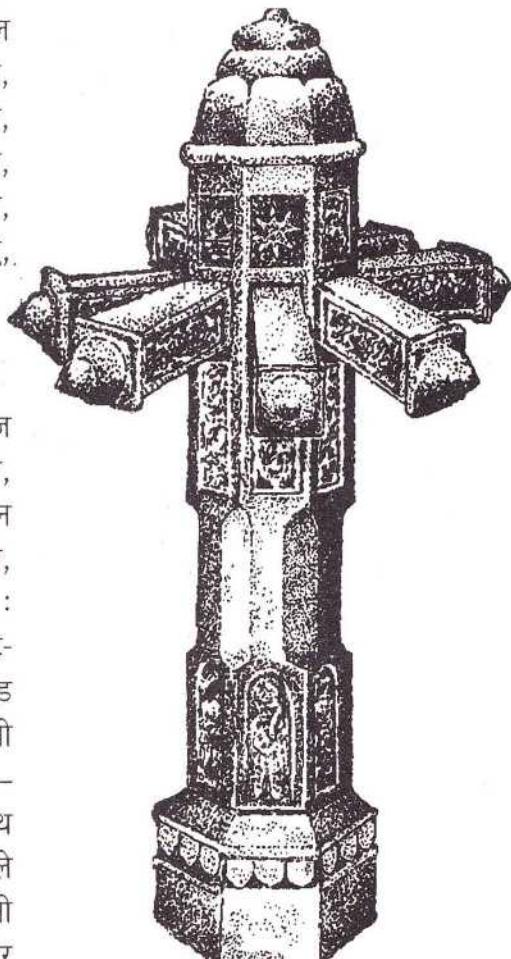
वर्षा कर चुके बादल यानी अपना कर्तव्य पूरा करने के बाद किसी पहाड़ी पर थोड़ा टिक कर आराम करने वाले बादल रींछी कहलाते हैं।

काम में लगे रहने से आराम करने तक बादलों की ऐसी समझ रखने वाला समाज, उन्हें इतना प्यार करने वाला समाज उनकी बूंदों को कितना मंगलमय मानता रहा होगा ?

अभी तो सूरज ही बरस रहा है। जेठ के महीने में कृष्णपक्ष की ग्यारस से नौतपा प्रारंभ होते हैं। ये तिथियां बदलती नहीं, हां, कैलैंडर के हिसाब से ये तिथियां मई महीने में कभी दूसरे तो कभी तीसरे हफ्ते में आती हैं। नौतपा, नवतपा — यानी धरती के खूब तपने के नौ दिन। ये खूब न तपें तो अच्छी वर्षा नहीं होती। इसी ताप की तपस्या से वर्षा की शीतलता आती है।

ओम-गोम, आकाश और धरती का, ब्रह्म और सृष्टि का यह शाश्वत संबंध है। तेज धूप का एक नाम घाम है, जो राजस्थान के अलावा बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश के कई इलाकों में चलता है। पर ओघमो शब्द राजस्थान में ही है — वर्षा से पहले की तपन। इन्हीं दिनों मरुभूमि में बलती यानी लू और फिर रेतीली आंधियां चलती हैं। खबरें छपती हैं कि इनसे यहां का जीवन 'अस्त-व्यस्त' हो गया है। रेल और सड़कें बंद हो गई हैं। पर अभी भी यहां लोग इन 'भयंकर' आंधियों को ओम-गोम का एक हिस्सा मानते हैं।

> मरुभूमि में जेठ को कोई कोसता नहीं।
> चरवाहे, ग्वाले जेठ के स्वागत में गीत गाते हैं
> और ठेठ कबीर की शैली में साईं को
> जेठ भेजने के लिए धन्यवाद देते हैं –
> जेठ महीनो भलां आयो...

इसलिए मरुभूमि में जेठ को कोई कोसता नहीं। उन दिनों पूरे ढंके शरीर में केवल चेहरा ही तो खुला रहता है। तेज बहती दखिनी हवा रेत उठा-उठा कर चेहरे पर मारती है। लेकिन चरवाहे, ग्वाले जेठ के स्वागत में गीत गाते हैं और ठेठ कबीर की शैली में साईं को जेठ भेजने के लिए धन्यवाद देते हैं : जेठ महीनो भलां आयो, दक्खन बाजे बा (हवा), कानों रे तो कांकड बाजे, वाड़े साईं वाह।

ऐसे भी प्रसंग हैं, जहां बारह महीने आपस में मिल बैठ बातें कर रहे हैं और हरेक महीना अपने को प्रकृति का सबसे योग्य बेटा बता रहा है। पर इस संवाद में बाजी मार ले जाता है जेठ का महीना। वही जेठू यानी सबसे बड़ा भाई सिद्ध होता है। जेठ ठीक तपे नहीं, रेत केअंधड़ उठें नहीं तो 'जमानो' अच्छा नहीं होगा। जमानो यानी वर्षा काल। वर्षा, खेतीबाड़ी, और घास-चारे के हिसाब से ठीक स्थिति का दौर। इसी दौर में पीथ

आषाढ़ लग गया है

यानी सूरज अपना अर्थ बदलकर जल बनता है।

आउगाल से प्रारंभ होते हैं वर्षा आगमन के संकेत। मोहल्लों में बच्चे निकलेंगे चादर फैलाकर 'डेडरियो' खेलने और बड़े निकलेंगे 'चादरें' साफ करने। जहां-जहां से वर्षा का पानी जमा करना है, वहां के आंगन, छत और कुंडी के आगौर की सफाई की जाएगी। जेठ के दिन बीत चले हैं। आषाढ़ लगने वाला है। पर वर्षा में अभी देरी है। आषाढ़ शुक्ल की एकादशी से शुरू होगा वरसाली या चौमासा। यहां वर्षा कम होती हो, कम दिन गिरती हो, पर समाज ने तो उसकी आवभगत के लिए पूरे चार महीने रोक कर रखे हैं।

समाज का जो मन कम आने वाले बादलों का इतने अधिक नामों से स्मरण करता हो, वह उनकी रजत बूंदों को कितने रूपों में देखता होगा, उन्हें कितने नामों से पुकारता होगा? यहां भी नामों की झड़ी लगी मिलेगी।

बूंद का पहला नाम तो हरि ही है। फिर मेघपुहुप है। वृष्टि और उससे बोली में

आया बिरखा और व्रखा है । घन का, बादल का सार, घणसार है । एक नाम मेवलियो भी है । बूंदों की तो नाममाला ही है । बूला और सीकर जलकण के अर्थ में हैं । फुहार तथा छींटा शब्द सब जगह प्रचलित हैं । उसी से छांटो, छांटा-छड़को, छछोहो बने हैं । फिर नभ से टपकने के कारण टपका है, टपको और टीपो है । झरमर है, बूंदा-बांदी । यही अर्थ लिए पुणंग और जीखा शब्द हैं । बूंदा-बांदी से आगे बढ़ने वाली वर्षा की झड़ी रीठ और भोट है । यह झड़ी लगातार झड़ने लगे तो झंड़मंडण है ।

यह छोल, यह आनंद सन्नाटे का नहीं है

चार मास वर्षा के और उनमें अलग-अलग महीने में होने वाली वर्षा के नाम भी

अलग-अलग । हलूर है तो झड़ी ही, पर सावन-भादों की । रोहाड़ ठंड में होने वाली छुटपुट वर्षा है । वरखावल भी झड़ी के अर्थ में वर्षावलि से सुधरकर बोली में आया शब्द है । मेहांझड़ में बूंदों की गति भी बढ़ती है और अवधि भी । झपटो में केवल गति बढ़ती है और अवधि कम हो जाती है — एक झपट्टे में सारा पानी गिर जाता है ।

त्राट, त्रमझड़, त्राटकणो और धरहरणो शब्द मूसलाधार वर्षा के लिए हैं । छोल शब्द भी इसी तरह की वर्षा के साथ-साथ आनंद का अर्थ भी समेटता है । यह छोल, यह आनंद सन्नाटे का नहीं है । ऐसी तेज वर्षा के साथ बहने वाली आवाज सोक या सोकड़ कहलाती

है। वर्षा कभी-कभी इतनी तेज और सोकड़ इतनी चंचल हो जाती है कि बादल और धरती की लंबी दूरी क्षण भर में नप जाती है। तब बादल से धरती तक को स्पर्श करने वाली धारावली यहां धारोलो के नाम से जानी जाती है।

न तो वर्षा का खेल यहां आकर रुकता है, न शब्दों का ही। धारोलो की बौछार बाहर से घर के भीतर आने लगे तो बाछड़ कहलाती है और इस बाछड़ की नमी से नम्र, नरम हुए और भीगे कपड़ों का विशेषण बाछड़वायो बन जाता है। धारोलो के साथ उठने वाली आवाज घमक कहलाती है। यह वजनी है, पुंलिंग भी। घमक को लेकर बहने वाली प्रचंड वायु वाबल है।

धीरे-धीरे वाबल मंद पड़ती है, घमक शांत होता है, कुछ ही देर पहले धरती को स्पर्श कर रहा धारोलो वापस बादल तक लौटने लगता है। वर्षा थम जाती है। बादल अभी छंटे नहीं हैं। अस्त हो रहा सूर्य उनमें से झांक रहा है। झांकते सूर्य की लंबी किरण मोघ कहलाती है और यह भी वर्षासूचक मानी जाती है। मोघ दर्शन के बाद रात फिर वर्षा होगी। जिस रात खूब पानी गिरे, वह मामूली रैण नहीं, महारैण कहलाती है।

तूठणो क्रिया है बरसने की और उबरेलो है उसके सिमटने की। तब चौमासा उठ जाता है, बीत जाता है। बरसने से सिमटने तक हर गांव, हर शहर अपने घरों की छत पर, आंगन में, खेतों में, चौराहों पर और निर्जन में भी बूंदों को संजो लेने के लिए अपनी 'चादर' फैलाए रखता है।

पालर यानी वर्षा के जल को संग्रह कर लेने के तरीके भी यहां बादलों और बूंदों की तरह अनंत हैं। बूंद-बूंद गागर भी भरती है और सागर भी — ऐसे सुभाषित पाठ्य पुस्तकों में नहीं, सचमुच अपने समाज की स्मृति में समाए मिलते हैं। इसी स्मृति से श्रुति बनी। जिस बात को समाज ने याद रखा, उसे उसने आगे सुनाया और बढ़ाया और न जाने कब पानी के इस काम का इतना विशाल, व्यावहारिक और बहुत व्यवस्थित ढांचा खड़ा कर दिया कि पूरा समाज उसमें एक जी हो गया। इसका आकार इतना बड़ा कि राज्य के कोई तीस हजार गांवों और तीन सौ शहरों, कस्बों में फैल कर वह निराकार-सा हो गया।

ऐसे निराकार संगठन को समाज ने न राज को, सरकार को सौंपा, न आज की भाषा में 'निजी' क्षेत्र को। उसने इसे पुरानी भाषा के निजी हाथ में रख दिया। घर-घर, गांव-गांव लोगों ने ही इस ढांचे को साकार किया, संभाला और आगे बढ़ाया।

पिंडवड़ी यानी अपनी मेहनत और अपने श्रम, परिश्रम से दूसरे की सहायता। समाज परिश्रम की, पसीने की बूंदें बहाता रहा है, वर्षा की बूंदों को एकत्र करने के लिए।

राजस्थान की रजत बूंदें

पसीने में तरबतर चेलवांजी कुंई के भीतर काम कर रहे हैं। कोई तीस-पैंतीस हाथ गहरी खुदाई हो चुकी है। अब भीतर गरमी बढ़ती ही जाएगी। कुंई का व्यास, घेरा बहुत ही संकरा है। उखरूं बैठे चेलवांजी की पीठ और छाती से एक-एक हाथ की दूरी पर मिट्टी है। इतनी संकरी जगह में खोदने का काम कुल्हाड़ी या फावड़े से नहीं हो सकता। खुदाई यहां बसौली से की जा रही है। बसौली छोटी डंडी का छोटे फावड़े जैसा औजार होता है। नुकीला फल लोहे का और हत्था लकड़ी का।

कुंई की गहराई में चल रहे मेहनती काम पर वहां की गरमी का असर पड़ेगा। गरमी कम करने के लिए ऊपर जमीन पर खड़े लोग बीच-बीच में मुट्ठी भर रेत बहुत जोर के साथ नीचे फेंकते हैं। इससे ऊपर की ताजी हवा नीचे फिकाती है और गहराई में जमा दमघोंटू गरम हवा ऊपर लौटती है। इतने ऊपर से फेंकी जा रही रेत के कण नीचे

काम कर रहे चेलवांजी के सिर पर लग सकते हैं इसलिए वे अपने सिर पर कांसे, पीतल या अन्य किसी धातु का एक बर्तन टोप की तरह पहने हुए हैं। नीचे थोड़ी खुदाई हो जाने के बाद चेलवांजी के पंजों के आसपास मलवा जमा हो गया है। ऊपर रस्सी से एक छोटा-सा डोल या बाल्टी उतारी जाती है। मिट्टी उसमें भर दी जाती है। पूरी सावधानी के साथ ऊपर खींचते समय भी बाल्टी में से कुछ रेत, कंकड़-पत्थर नीचे गिर सकते हैं। टोप इनसे भी चेलवांजी का सिर बचाएगा।

चेलवांजी यानी चेजारो, कुंई की खुदाई और एक विशेष तरह की चिनाई करने वाले दक्षतम लोग। यह काम चेजा कहलाता है। चेजारो जिस कुंई को बना रहे हैं, वह भी कोई साधारण ढांचा नहीं है। कुंई यानी बहुत ही छोटा-सा कुआं। कुआं पुंलिंग है, कुंई स्त्रीलिंग। यह छोटी भी केवल व्यास में ही है। गहराई तो इस कुंई की कहीं से कम नहीं। राजस्थान में अलग-अलग स्थानों पर एक विशेष कारण से कुंइयों की गहराई कुछ कम-ज्यादा होती है।

कुंई एक और अर्थ में कुएं से बिलकुल अलग है। कुआं भूजल को पाने के लिए बनता है पर कुंई भूजल से ठीक वैसे नहीं जुड़ती जैसे कुआं जुड़ता है। कुंई वर्षा के जल को बड़े विचित्र ढंग से समेटती है — तब भी जब वर्षा ही नहीं होती! यानी कुंई में न तो सतह पर बहने वाला पानी है, न भूजल है। यह तो 'नेति-नेति' जैसा कुछ पेचीदा मामला है।

मरुभूमि में रेत का विस्तार और गहराई अथाह है। यहां वर्षा अधिक मात्रा में भी हो तो उसे भूमि में समा जाने में देर नहीं लगती। पर कहीं-कहीं मरुभूमि में रेत की सतह के नीचे प्रायः दस-पंद्रह हाथ से पचास-साठ हाथ नीचे खड़िया पत्थर की एक पट्टी चलती है। यह पट्टी जहां भी है, काफी लंबी-चौड़ी है पर रेत के नीचे दबी रहने के कारण ऊपर

प्रकृति की उदारता पर खड़ी कुंई

से दिखती नहीं है।

ऐसे क्षेत्रों में बड़े कुएं खोदते समय मिट्टी में हो रहे परिवर्तन से खड़िया पट्टी का पता चल जाता है। बड़े कुओं में पानी तो डेढ़ सौ-दो सौ हाथ पर निकल ही आता है पर वह प्रायः खारा होता है। इसलिए पीने के काम में नहीं आ सकता। बस तब इन क्षेत्रों में कुंइयां बनाई जाती हैं। पट्टी खोजने में पीढ़ियों का अनुभव भी काम आता है। बरसात का पानी किसी क्षेत्र में एकदम 'बैठे' नहीं तो पता चल जाता है कि रेत के नीचे ऐसी पट्टी चल रही है।

यह पट्टी वर्षा के जल को गहरे खारे भूजल तक जाकर मिलने से रोकती है। ऐसी स्थिति में उस बड़े क्षेत्र में बरसा पानी भूमि की रेतीली सतह और नीचे चल रही पथरीली पट्टी के बीच अटक कर नमी की तरह फैल जाता है। तेज पड़ने वाली गरमी में इस नमी की भाप बनकर उड़ जाने की आशंका उठ सकती है। पर ऐसे क्षेत्रों में प्रकृति की एक और अनोखी उदारता काम करती है।

रेत के कण बहुत ही बारीक होते हैं। वे अन्यत्र मिलने वाली मिट्टी के कणों की तरह एक दूसरे से चिपकते नहीं। जहां लगाव है, वहां अलगाव भी होता है। जिस मिट्टी के कण परस्पर चिपकते हैं, वे अपनी जगह भी छोड़ते हैं और इसलिए वहां कुछ स्थान खाली छूट जाता है। जैसे दोमट या काली मिट्टी के क्षेत्र में गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार आदि में वर्षा बंद होने के बाद धूप निकलने पर मिट्टी के कण चिपकने लगते हैं और धरती में, खेत और आंगन में दरारें पड़ जाती हैं। धरती की संचित नमी इन दरारों से गर्मी पड़ते ही वाष्प बनकर वापस वातावरण में लौटने लगती है।

पर यहां बिखरे रहने में ही संगठन है। मरुभूमि में रेत के कण समान रूप से बिखरे

रहते हैं। यहां परस्पर लगाव नहीं, इसलिए अलगाव भी नहीं होता। पानी गिरने पर कण थोड़े भारी हो जाते हैं पर अपनी जगह नहीं छोड़ते। इसलिए मरुभूमि में धरती पर दरारें नहीं पड़तीं। भीतर समाया वर्षा का जल भीतर ही बना रहता है। एक तरफ थोड़े नीचे चल रही पट्टी इसकी रखवाली करती है तो दूसरी तरफ ऊपर रेत के असंख्य कणों का कड़ा पहरा बैठा रहता है।

इस हिस्से में बरसी बूंद-बूंद रेत में समा कर नमी में बदल जाती है। अब यहां कुंई बन जाए तो उसका पेट, उसकी खाली जगह चारों तरफ रेत में समाई नमी को फिर से बूंदों में बदलती है। बूंद-बूंद रिसती है और कुंई में पानी जमा होने लगता है — खारे पानी के सागर में अमृत जैसा मीठा पानी।

इस अमृत को पाने के लिए मरुभूमि के समाज ने खूब मंथन किया है। अपने अनुभवों को व्यवहार में उतारने का पूरा एक शास्त्र विकसित किया है। इस शास्त्र ने समाज के लिए उपलब्ध पानी को तीन रूपों में बांटा है।

खारे पानी के सागर में अमृत जैसा मीठा पानी

पहला रूप है पालर पानी। यानी सीधे बरसात से मिलने वाला पानी। यह धरातल पर बहता है और इसे नदी, तालाब आदि में रोका जाता है। यहां आदि शब्द में भी बहुत कुछ छिपा है। उसका पूरा विवरण आगे कहीं और मिलेगा।

पानी का दूसरा रूप पाताल पानी कहलाता है। यह वही भूजल है जो कुओं में से निकाला जाता है।

पालर पानी और पाताल पानी के बीच पानी का तीसरा रूप है, रेजाणी पानी। धरातल से नीचे उतरा लेकिन पाताल में न मिल पाया पानी रेजाणी है। वर्षा की मात्रा नापने में भी इंच या सेंटीमीटर नहीं बल्कि रेजा शब्द का उपयोग होता है। और रेजा का माप धरातल
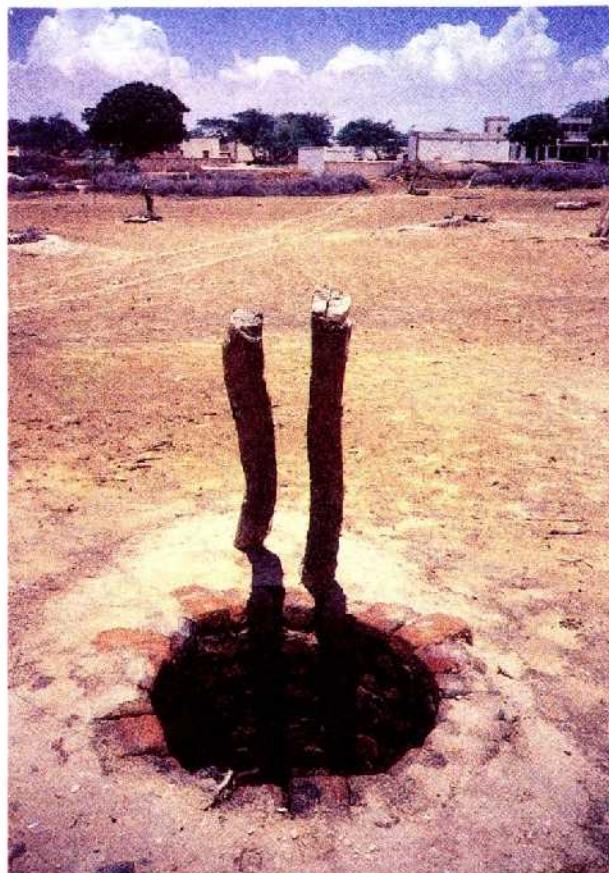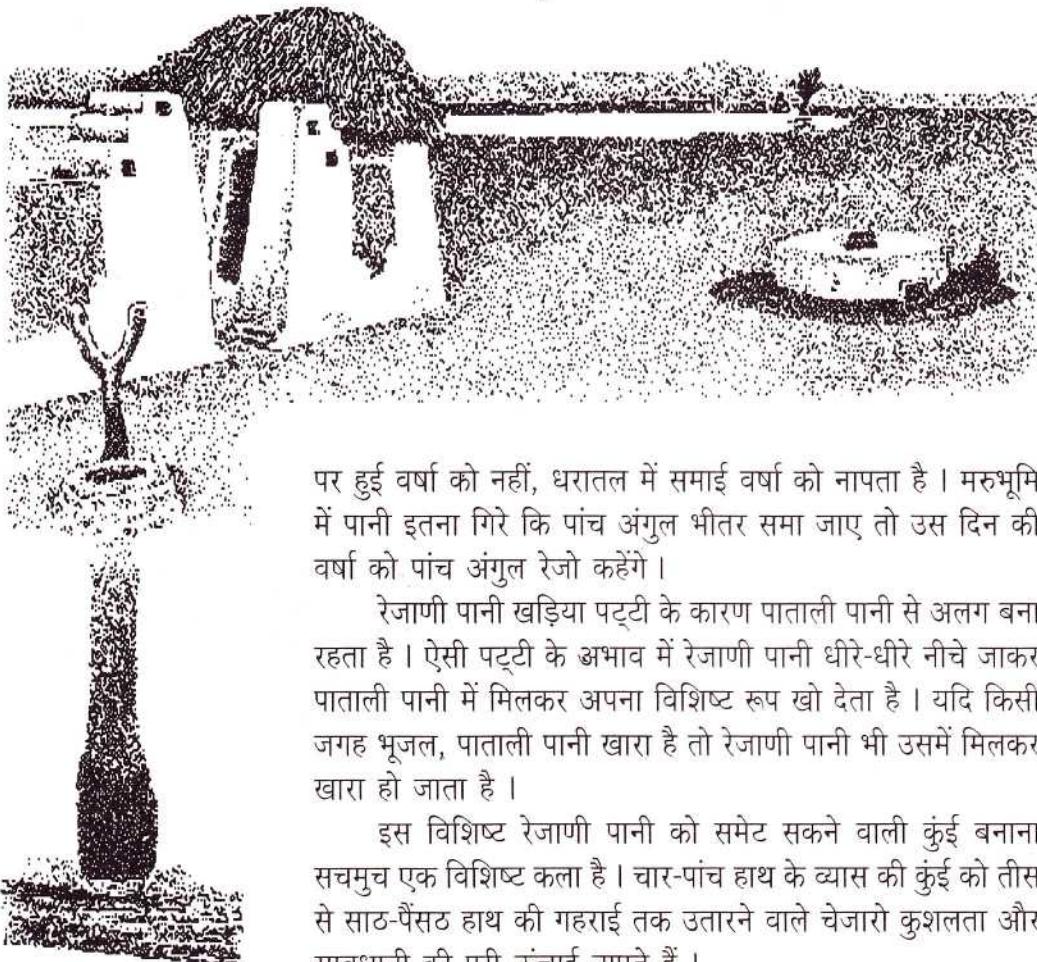
पर हुई वर्षा को नहीं, धरातल में समाई वर्षा को नापता है। मरुभूमि में पानी इतना गिरे कि पांच अंगुल भीतर समा जाए तो उस दिन की वर्षा को पांच अंगुल रेजो कहेंगे।

रेजाणी पानी खड़िया पट्टी के कारण पाताली पानी से अलग बना रहता है। ऐसी पट्टी के अभाव में रेजाणी पानी धीरे-धीरे नीचे जाकर पाताली पानी में मिलकर अपना विशिष्ट रूप खो देता है। यदि किसी जगह भूजल, पाताली पानी खारा है तो रेजाणी पानी भी उसमें मिलकर खारा हो जाता है।

इस विशिष्ट रेजाणी पानी को समेट सकने वाली कुंई बनाना सचमुच एक विशिष्ट कला है। चार-पांच हाथ के व्यास की कुंई को तीस से साठ-पैंसठ हाथ की गहराई तक उतारने वाले चेजारो कुशलता और सावधानी की पूरी ऊंचाई नापते हैं।

चेजो यानी चिनाई का श्रेष्ठतम काम कुंई का प्राण है। इसमें थोड़ी-सी भी चूक चेजारो के प्राण ले सकती है। हर दिन थोड़ी-थोड़ी खुदाई होती है, डोल से मलबा निकाला जाता है और फिर आगे की खुदाई रोक कर अब तक हो चुके काम की चिनाई की जाती है ताकि मिट्टी भसके, धंसे नहीं।

बीस-पच्चीस हाथ की गहराई तक जाते-जाते गरमी बढ़ती जाती है और हवा भी कम होने लगती है। तब ऊपर से मुट्ठी भर-भर कर रेत नीचे तेजी से फेंकी जाती है—मरुभूमि में जो हवा रेत के विशाल टीलों तक को यहां से वहां उड़ा देती है, वही हवा यहां कुंई की गहराई में एक मुट्ठी रेत से उड़ने लगती है और पसीने में नहा रहे चेलवांजी को राहत दे जाती है। कुछ जगहों पर कुंई बनाने का यह कठिन काम और भी कठिन हो जाता है। किसी-किसी जगह ईंट की चिनाई से मिट्टी को रोकना संभव नहीं हो पाता। तब कुंई को रस्से से 'बांधा' जाता है।

कुंई पर सजगता का पहरा

पहले दिन कुंई खोदने के साथ-साथ खींप नाम की घास का ढेर जमा कर लिया जाता है। चेजारो खुदाई शुरू करते हैं और बाकी लोग खींप की घास से कोई तीन अंगुल मोटा रस्सा बंटने लगते हैं। पहले दिन का काम पूरा होते-होते कुंई कोई दस हाथ गहरी हो जाती है। इसके तल पर दीवार के साथ सटा कर रस्से का पहला गोला बिछाया जाता है और फिर उसके ऊपर दूसरा, तीसरा, चौथा — इस तरह ऊपर आते जाते हैं। खींप घास से बना खुरदरा मोटा रस्सा हर घेरे पर अपना वजन डालता है और बटी हुई लड़ियां एक दूसरे में फंस कर मजबूती से एक के ऊपर एक बैठती जाती हैं। रस्से का आखिरी छोर ऊपर रहता है।

अगले दिन फिर कुछ हाथ मिट्टी खोदी जाती है और रस्से की पहले दिन जमाई गई कुंडली दूसरे दिन खोदी गई जगह में सरका दी जाती है। ऊपर छूटी दीवार में अब नया रस्सा बांधा जाता है। रस्से की कुंडली को टिकाए रखने के लिए बीच-बीच में कहीं-कहीं चिनाई भी करते जाते हैं।

लगभग पांच हाथ के व्यास की कुंई में रस्से की एक ही कुंडली का सिर्फ एक घेरा बनाने के लिए लगभग पंद्रह हाथ लंबा रस्सा चाहिए। एक हाथ की गहराई में रस्से के

नए लोगों को तो समझ में भी नहीं
आएगा कि यहां कुंई खुद रही है

आठ-दस लपेटे खप जाते हैं और इतने में ही रस्से की कुल लंबाई डेढ़ सौ हाथ हो जाती है। अब यदि तीस हाथ गहरी कुंई की मिट्टी को थामने के लिए रस्सा बांधना पड़े तो रस्से की लंबाई चार हजार हाथ के आसपास बैठती है। नए लोगों को तो समझ में भी नहीं आएगा कि यहां कुंई खुद रही है कि रस्सा बन रहा है!

कहीं-कहीं न तो ज्यादा पत्थर मिलता है न खींप ही। लेकिन रेजाणी पानी है तो

वहां भी कुंइयां जरूर बनती हैं। ऐसी जगहों पर भीतर की चिनाई लकड़ी के लंबे लट्ठों से की जाती है। लट्ठे अरणी, बण (कैर) बावल या कुंबट के पेड़ों की डगालों से बनाए जाते हैं। इस काम के लिए सबसे उम्दा लकड़ी अरणी की ही है। पर उम्दा या मध्यम दर्जे की लकड़ी न मिल पाए तो आक तक से भी काम लिया जाता है।

लट्ठे नीचे से ऊपर की ओर एक दूसरे में फंसा कर सीधे खड़े किए जाते हैं। फिर इन्हें खींप की रस्सी से बांधा जाता है। कहीं-कहीं चग की रस्सी भी काम में लाते हैं। यह बंधाई भी कुंडली का आकार लेती है, इसलिए इसे सांपणी भी कहते हैं।

नीचे खुदाई और चिनाई का काम कर रहे चेलवांजी को मिट्टी की खूब परख रहती है। खड़िया पत्थर की पट्टी आते ही सारा काम रुक जाता है। इस क्षण नीचे धार लग जाती है। चेजारो ऊपर आ जाते हैं।

कुंई की सफलता यानी सजलता उत्सव का अवसर बन जाती है। यों तो पहले दिन से काम करने वालों का विशेष ध्यान रखना यहां की परंपरा रही है, पर काम पूरा होने पर तो विशेष भोज का आयोजन होता था। चेलवांजी को बिदाई के समय तरह-तरह की भेंट दी जाती थी। चेजारो के साथ गांव का यह संबंध उसी दिन नहीं टूट जाता था। आच प्रथा से उन्हें वर्ष-भर के तीज-त्योहारों में, विवाह जैसे मंगल अवसरों पर नेग, भेंट दी जाती और फसल आने पर खलियान में उनके नाम से अनाज का एक अलग ढेर भी लगता था। अब सिर्फ मजदूरी देकर भी काम करवाने का रिवाज आ गया है।

कई जगहों पर चेजारो के बदले सामान्य गृहस्थ भी इस विशिष्ट कला में कुशल बन जाते थे। जैसलमेर के अनेक गांवों में पालीवाल ब्राह्मणों और मेघवालों (अब अनुसूचित कहलाई जाति) के हाथों से सौ-दो सौ बरस पहले बनी पार या कुंइयां आज भी बिना थके पानी जुटा रही हैं।

कुंई का मुंह छोटा रखने के तीन बड़े कारण हैं। रेत में जमा नमी से पानी की बूंदें बहुत धीरे-धीरे रिसती हैं। दिन भर में एक कुंई मुश्किल से इतना ही पानी जमा कर पाती है कि उससे दो-तीन घड़े भर सकें। कुंई के तल पर पानी की मात्रा इतनी कम होती है कि यदि कुंई का व्यास बड़ा हो तो कम मात्रा का पानी ज्यादा फैल जाएगा और तब उसे
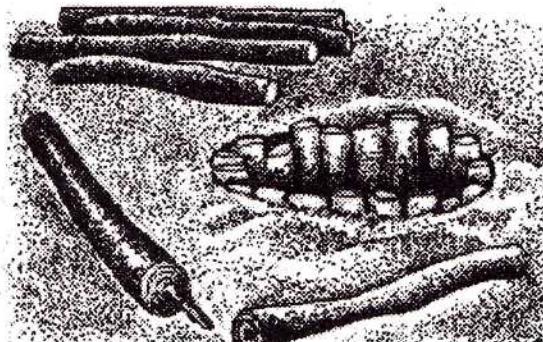
ऊपर निकालना संभव नहीं होगा। छोटे व्यास की कुंई में धीरे-धीरे रिस कर आ रहा पानी दो-चार हाथ की उंचाई ले लेता है। कई जगहों पर कुंई से पानी निकालते समय छोटी बाल्टी के बदले छोटी चड़स का उपयोग भी इसी कारण से किया जाता है। धातु की बाल्टी पानी में आसानी से डूबती नहीं। पर मोटे कपड़े या चमड़े की चड़स के मुंह पर लोहे का वजनी कड़ा बंधा होता है। चड़स पानी से टकराता है, ऊपर का वजनी भाग नीचे के भाग पर गिरता है और इस तरह कम मात्रा के पानी में भी ठीक से डूब जाता है। भर जाने के बाद ऊपर उठते ही चड़स अपना पूरा आकार ले लेता है।

हर दिन सोने का एक अंडा देने वाली मुर्गी की कहानी को जमीन पर उतारती है कुंई। इससे दिन-भर में बस दो-तीन घड़ा मीठा पानी निकाला जा सकता है।

पिछले दौर में ऐसे कुछ गांवों के आसपास से सड़कें निकली हैं, ट्रक दौड़े हैं। ट्रकों की फटी ट्यूब से भी छोटी चड़सी बनने लगी हैं।

कुंई के व्यास का संबंध इन क्षेत्रों में पड़ने वाली तेज गरमी से भी है। व्यास बड़ा हो तो कुंई के भीतर पानी ज्यादा फैल जाएगा। बड़ा व्यास पानी को भाप बनकर उड़ने से रोक नहीं पाएगा।

कुंई को, उसके पानी को साफ रखने के लिए उसे ढंक कर रखना जरूरी है। छोटे मुंह को ढंकना सरल होता है। हरेक कुंई पर लकड़ी के बने ढक्कन ढंके मिलेंगे। कहीं-कहीं खस की टट्टी की तरह घास-फूस या छोटी-छोटी टहनियों से बने ढक्कनों का भी उपयोग किया जाता है। जहां नई सड़कें निकली हैं और इस तरह नए और अपरिचित लोगों की आवक-जावक भी बढ़ गई है, वहां अमृत जैसे इस मीठे पानी की सुरक्षा भी करनी पड़ती है। इन इलाकों में कई कुंइयों के ढक्कनों पर छोटे-छोटे ताले भी लगने लगे हैं। ताले कुंई के ऊपर पानी खींचने के लिए लगी घिरनी, चकरी पर भी लगाए जाते हैं।

कुंई गहरी बने तो पानी खींचने की सुविधा के लिए उसके ऊपर घिरनी या चकरी भी लगाई जाती है। यह गरेड़ी, चरखी या फरेड़ी भी कहलाती है। फरेड़ी लोहे की दो भुजाओं पर भी लगती है। लेकिन प्रायः यह गुलेल के आकार के एक मजबूत तने को काट कर, उसमें आर-पार छेद बना कर लगाई जाती है। इसे ओड़ाक कहते हैं। ओड़ाक और चरखी के बिना इतनी गहरी और संकरी कुंई से पानी निकालना बहुत कठिन काम बन सकता है। ओड़ाक और चरखी चड़सी को यहां-वहां बिना टकराए सीधे ऊपर तक लाती है, पानी बीच में छलक कर गिरता नहीं। वजन खींचने में तो इससे सुविधा रहती ही है।

खड़िया पत्थर की पट्टी एक बड़े भाग से गुजरती है इसलिए उस पूरे हिस्से में एक के बाद एक कुंई बनती जाती है। ऐसे क्षेत्र में एक बड़े साफ-सुथरे मैदान में तीस-चालीस कुंइयां भी मिल जाती हैं। हर घर की एक कुंई। परिवार बड़ा हो तो एक से अधिक भी।

निजी और सार्वजनिक संपत्ति का विभाजन करने वाली मोटी रेखा कुंई के मामले में बड़े विचित्र ढंग से मिट जाती है। हरेक की अपनी-अपनी कुंई है। उसे बनाने और उससे पानी लेने का हक उसका अपना हक है। लेकिन कुंई जिस क्षेत्र में बनती है, वह गांव-समाज की सार्वजनिक जमीन है। उस जगह बरसने वाला पानी ही बाद में वर्ष-भर नमी की तरह सुरक्षित रहेगा और इसी नमी से साल-भर कुंइयों में पानी भरेगा। नमी की मात्रा तो वहां हो चुकी वर्षा से तय हो गई है। अब उस क्षेत्र में बनने वाली हर नई कुंई का अर्थ है, पहले से तय नमी का बंटवारा। इसलिए निजी होते हुए भी सार्वजनिक क्षेत्र में बनी कुंइयों पर ग्राम समाज का अंकुश लगा रहता है। बहुत जरूरत पड़ने पर ही समाज नई कुंई के लिए अपनी स्वीकृति देता है।

हर दिन सोने का एक अंडा देने वाली मुर्गी की चिरपरिचित कहानी को जमीन पर उतारती है कुंई। इससे दिन-भर में बस दो-तीन घड़ा मीठा पानी निकाला जा सकता है। इसलिए प्रायः पूरा गांव गोधूलि बेला में कुंइयों पर आता है। तब मेला-सा लग जाता है। गांव से सटे मैदान में तीस-चालीस कुंइयों पर एक साथ घूमती घिरनियों का स्वर गोचर से लौट रहे पशुओं की घंटियों और रंभाने की आवाज में समा जाता है। दो-तीन घड़े भर जाने पर डोल और रस्सियां समेट ली जाती हैं। कुंइयों के ढक्कन वापस बंद हो जाते हैं। रात-भर और अगले दिन-भर कुंइयां आराम करेंगी।

रेत के नीचे सब जगह खड़िया की पट्टी नहीं है, इसलिए कुंई भी पूरे राजस्थान में नहीं मिलेगी। चुरू, बीकानेर, जैसलमेर और बाड़मेर के कई क्षेत्रों में यह पट्टी चलती है और इसी कारण वहां गांव-गांव में कुंइयां ही कुंइयां हैं। जैसलमेर जिले के एक गांव खड़ेरों की ढाणी में तो एक सौ बीस कुंइयां थीं। लोग इस क्षेत्र को छह-बीसी (छह गुणा बीस) के नाम से जानते थे। कहीं-कहीं इन्हें पार भी कहते हैं। जैसलमेर तथा बाड़मेर के कई गांव पार के कारण ही आबाद हैं। और इसीलिए उन गांवों के नाम भी पार पर ही हैं। जैसे जानरे आलो पार और सिरगु आलो पार।

अलग-अलग जगहों पर खड़िया पट्टी के भी अलग-अलग नाम हैं। कहीं यह चारोली है तो कहीं धाधड़ो, धड़धड़ो, कहीं पर बिट्टू रो बल्लियो के नाम से भी जानी जाती है तो कहीं इस पट्टी का नाम केवल 'खडी' भी है।

और इसी खडी के बल पर खारे पानी के बीच मीठा पानी देती खड़ी रहती है कुंई।

ठहरा पानी निर्मला

'बहता पानी निर्मला' कहावत राजस्थान में ठिठक कर खड़ी हो जाती है। यहां कुंडियां हैं, जिनमें पानी बरस भर, और कभी-कभी उससे भी ज्यादा समय तक ठहरा रह कर भी निर्मल बना रहता है।

सिद्धांत वही है : वर्षा की बूंदों को यानी पालर पानी को एक खूब साफ सुथरी जगह में रोक कर उनका संग्रह करना। कुंडी, कुंड, टांका — नाम या आकार बदल जाए, काम एक ही है — आज गिरी बूंदों को कल के लिए रोक लेना। कुंडी सब जगह हैं। पहाड़ पर बने किलों में, मंदिरों में, पहाड़ की तलहटी में, घर के आंगन में, छत में, गांव में, गांव के बाहर निर्जन में, रेत में, खेत में ये सब जगह, सब समय में बनती रही हैं। तीन सौ, चार सौ बरस पुरानी कुंडी भी हैं और अभी कल ही बनी कुंडियां भी मिल जाएंगी। और तो और, स्टार टीवी के एंटिना के ठीक नीचे भी कुंडी दिख सकती है।

जहां जितनी भी जगह मिल सके, वहां गारे-चूने से लीप कर एक ऐसा 'आंगन' बना लिया जाता है, जो थोड़ी ढाल लिए रहता है। यह ढाल एक तरफ से दूसरी तरफ भी हो सकती है और यदि 'आंगन' काफी बड़ा है तो ढाल उसके सब कोनों से बीच केंद्र की तरफ भी आ सकती है। 'आंगन' के आकार के हिसाब से, उस पर बरसने वाली वर्षा के हिसाब से इस केंद्र में एक कुंड बनाया जाता है। कुंड के भीतर की चिनाई इस ढंग से की जाती है कि उसमें एकत्र होने वाले पानी की एक बूंद भी रिसे नहीं, वर्ष भर पानी सुरक्षित और साफ-सुथरा बना रहे।

जिस आंगन से कुंडी के लिए वर्षा का पानी जमा किया जाता है, वह आगोर कहलाता है। आगोर संज्ञा आगोरना क्रिया से बनी है, बटोर लेने के अर्थ में। आगोर को खूब साफ-सुथरा रखा जाता है, वर्ष भर। वर्षा से पहले तो इसकी बहुत बारीकी से सफाई होती है। जूते, चप्पल आगोर में नहीं जा सकते।

आगोर की ढाल से बह कर आने वाला पानी कुंडी के मंडल, यानी घेरे में चारों तरफ बने ओयरो यानी सुराखों से भीतर पहुंचता है। ये छेद कहीं-कहीं इंडु भी कहलाते हैं। आगोर की सफाई के बाद भी पानी के साथ आ सकने वाली रेत, पत्तियां रोकने के लिए ओयरो में कचरा छानने के लिए जालियां भी लगती हैं। बड़े आकार की कुंडियों में वर्ष भर पानी को ताजा बनाए रखने के लिए हवा और उजाले का प्रबंध गोख (गवाक्ष) यानी झरोखों से किया जाता है।

कुंड छोटा हो या कितना भी बड़ा, इसे अछायो यानी खुला नहीं छोड़ा जाता। अछायो कुंड अशोभनीय माना जाता है और पानी के काम में शोभा तो होनी ही चाहिए। शोभा और शुचिता, साफ सफाई यहां साथ-साथ मिलती हैं।

कुंडियों का मुंह अकसर गोलाकार बनता है इसलिए इसे ढंक कर रखने के लिए गुंबद बनाया जाता है। मंदिर, मस्जिद की तरह उठा यह गुंबद कुंडी को भव्य भी बनाता है। जहां पत्थर की लंबी पट्टियां मिलती हैं, वहां कुंडों को गुंबद के बदले पट्टियों से भी ढंका जाता है। गुंबद हो या पत्थर की पट्टी, उसके एक कोने में लोहे या लकड़ी का एक ढक्कन और लगता है। इसे खोल कर पानी निकाला जाता है।

कई कुंडियां या कुंड इतने गहरे होते हैं, तीस-चालीस हाथ गहरे कि उनमें से पानी किसी गहरे कुएं की तरह ही निकाला जाता है। तब कुंडी की जगत भी बनती है, उस पर चढ़ने के लिए पांच-सात सीढ़ियां भी और फिर ढक्कन के ऊपर गड़गड़ी, चखरी भी लगती है। चुरू के कई हिस्सों में कुंड बहुत बड़े और गहरे हैं। गहराई के कारण इन पर मजबूत चखरी लगाई जाती है और इतनी गहराई से पानी खींच कर ला रही वजनी बाल्टी

को सह सकने के लिए चखरी को दो सुंदर मीनारों पर टिकाया जाता है। कहीं-कहीं चारमीनार-कुंडी भी बनती है ।

जगह की कमी हो तो कुंडी बहुत छोटी भी बनती है । तब उसका आगोर ऊंचा उठा लिया जाता है। संकरी जगह का अर्थ ही है कि आसपास की जगह समाज या परिवार के किसी और काम में लगी है। इसलिए एकत्र होने वाले पानी की शुद्धता के लिए आगोर ठीक किसी चबूतरे की तरह ऊंचा उठा रहता है ।

बहुत बड़ी जोतों के कारण मरुभूमि में गांव और खेतों की दूरी और भी बढ़ जाती है । खेत पर दिन-भर काम करने के लिए भी पानी चाहिए। खेतों में भी थोड़ी-थोड़ी दूर पर छोटी-बड़ी कुंडियां बनाई जाती हैं ।

कुंडी बनती ही ऐसे रेतीले इलाकों में है, जहां भूजल सौ-दो सौ हाथ से भी गहरा और प्रायः खारा मिलता है । बड़ी कुंडियां भी बीस-तीस हाथ गहरी बनती हैं और वह भी रेत में। भीतर बूंद-बूंद भी रिसने लगे तो भरी-भराई कुंडी खाली होने में देर नहीं लगे।

इसलिए कुंडी के भीतरी भाग में सर्वोत्तम चिनाई की जाती है । आकार छोटा हो या बड़ा, चिनाई तो सौ टका ही होती है। चिनाई में पत्थर या पत्थर की पट्टियां भी लगाई जाती हैं । सांस यानी पत्थरों के बीच जोड़ते समय रह गई जगह में फिर से महीन चूने का लेप किया जाता है । मरुभूमि में तीस हाथ पानी भरा हो, और तीस बूंद भी रिसन नहीं होगी — ऐसा वचन बड़े से बड़े वास्तुकार न दे पाएं, चेलवांजी तो देते ही हैं ।

मरुभूमि में
तीस हाथ पानी भरा हो, और तीस बूंद भी
रिसन नहीं होगी –
ऐसा वचन बड़े से बड़े वास्तुकार न दे पाएं,
चेलवांजी तो देते ही हैं

आगोर की सफाई और भारी सावधानी के बाद भी कुछ रेत कुंडी में पानी के साथ चली जाती है । इसलिए कभी-कभी वर्ष के प्रारंभ में, चैत में कुंडी के भीतर उतर कर इसकी सफाई भी करनी पड़ती है । नीचे उतरने के लिए चिनाई के समय ही दीवार की गोलाई में एक-एक हाथ के अंतर पर जरा-सी बाहर निकली पत्थर की एक-एक छोटी-छोटी पट्टी बिठा दी जाती है ।

नीचे कुंडी के तल पर जमा रेत आसानी से समेट कर निकाली जा सके, इसका भी पूरा ध्यान रखा जाता है। तल एक बड़े कढ़ाव जैसा ढालदार बनाया जाता है। इसे खमाड़ियो या कुंडालियो भी कहते हैं । लेकिन ऊपर आगोर में इतनी अधिक सावधानी रखी जाती है कि खमाड़ियो में से रेत निकालने का काम दस से बीस बरस में एकाध बार ही करना

रामदेवरा रेल फाटक पर पुण्य का काम

पड़ता है। एक पूरी पीढ़ी कुंडी को इतने समार, यानी संभाल कर रखती है कि दूसरी पीढ़ी को ही उसमें सीढ़ियों से उतरने का मौका मिल पाता है। पिछले दौर में सरकारों ने कहीं-कहीं पानी का नया प्रबंध किया है, वहां कुंडियों की रखवाली की मजबूत परंपरा जरूर कमजोर हुई है।

कुंडी निजी भी हैं और सार्वजनिक भी। निजी कुंडियां घरों के सामने, आंगन में, हाते यानी अहाते में और पिछवाड़े,बाड़ों में बनती हैं। सार्वजनिक कुंडियां पंचायती भूमि में या प्रायः दो गांव के बीच बनाई जाती हैं। बड़ी कुंडियों की चारदीवारी में प्रवेश के लिए दरवाजा होता है। इसके सामने प्रायः दो खुले हौज रहते हैं। एक छोटा, एक बड़ा। इनकी ऊंचाई भी कम ज्यादा रखी जाती है। ये खेल, थाला, हवाड़ो, अवाड़ो या उबारा कहलाते हैं। इनमें आसपास से गुजरने वाले भेड़-बकरियों, ऊंट और गायों के लिए पानी भर कर रखा जाता है।

सार्वजनिक कुंडियां भी लोग ही बनाते हैं। पानी का काम पुण्य का काम है। किसी

भी घर में कोई अच्छा प्रसंग आने पर गृहस्थ सार्वजनिक कुंडी बनाने का संकल्प लेते हैं और फिर इसे पूरा करने में गांव के दूसरे घर भी अपना श्रम देते हैं। कुछ सम्पन्न परिवार सार्वजनिक कुंडी बना कर उसकी रखवाली का काम एक परिवार को सौंप देते हैं। कुंड के बड़े अहाते में आगोर के बाहर इस परिवार के रहने का प्रबंध कर दिया जाता है। यह व्यवस्था दोनों तरफ से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती है। कुंडी बनाने वाले परिवार का मुखिया अपनी संपत्ति का एक निश्चित भाग कुंडी की सारसंभाल के लिए अलग रख देता है। बाद की पीढ़ियां भी इसे निभाती हैं। आज भी यहां ऐसे बहुत से कुंड हैं, जिनको बनाने

फोग की समयसिद्ध कुंडी

वाले परिवार नौकरी, व्यापार के कारण यहां से निकल कर असम, बंगाल, बंबई जा बसे हैं पर रखवाली करने वाले परिवार कुंड पर ही बसे हैं। ऐसे बड़े कुंड आज भी वर्षा के जल का संग्रह करते हैं और पूरे बरस भर किसी भी नगरपालिका से ज्यादा शुद्ध पानी देते हैं।

कई कुंड टूट-फूट भी गए हैं, कहीं-कहीं पानी भी खराब हुआ है पर यह सब समाज की टूट-फूट के अनुपात में ही मिलेगा। इसमें इस पद्धति का कोई दोष नहीं है। यह पद्धति तो नई खर्चीली और अव्यावहारिक योजनाओं के दोष भी ढंकने की उदारता रखती है।

इन इलाकों में पिछले दिनों जल संकट 'हल' करने के लिए जितने भी नलकूप और 'हैंडपंप' लगे, उनमें पानी खारा ही निकला। पीने लायक मीठा पानी इन कुंड, कुंडियों में ही उपलब्ध था। इसलिए बाद में अकल आने पर कहीं-कहीं कुंडों के ऊपर ही 'हैंडपंप' लगा दिए गए हैं। बहुप्रचारित इंदिरा गांधी नहर से ऐसे कुछ ही क्षेत्रों में पीने का पानी पहुंचाया गया है और इस पानी का संग्रह कहीं तो नई बनी सरकारी टंकियों में किया गया है और कहीं-कहीं इन्हीं पुराने कुंडों में।

इन कुंडियों ने पुराना समय भी देखा है, नया भी। इस हिसाब से वे समयसिद्ध हैं। स्वयंसिद्ध इनकी एक और विशेषता है। इन्हें बनाने के लिए किसी भी तरह की सामग्री कहीं और से नहीं लानी पड़ती। मरुभूमि में पानी का काम करने वाले विशाल संगठन का एक बड़ा गुण है — अपनी ही जगह उपलब्ध चीजों से अपना मजबूत ढांचा खड़ा करना। किसी जगह कोई एक सामग्री मिलती है, पर किसी और जगह पर वह है नहीं — पर कुंडी वहां भी बनेगी।

जहां पत्थर की पट्टियां निकलती हैं, वहां कुंडी का मुख्य भाग उसी से बनता है। कुछ जगह यह नहीं है। पर वहां फोग नाम का पेड़ खड़ा है साथ देने। फोग की टहनियों को एक दूसरे में गूंथ कर, फंसा कर कुंडी के ऊपर का गुंबदनुमा ढांचा बनाया जाता है। इस पर रेत, मिट्टी और चूने का मोटा लेप लगाया जाता है। गुंबद के ऊपर चढ़ने के लिए भीतर गुंथी लकड़ियों का कुछ भाग बाहर निकाल कर रखा जाता है। बीच में पानी निकालने की जगह। यहां भी वर्षा का पानी कुंडी के मंडल में बने ओयरो, छेद से जाता है। पत्थर वाली कुंडी में ओयरो की संख्या एक से अधिक रहती है, लेकिन फोग की कुंडियों में सिर्फ एक ही रखी जाती है। कुंडी का व्यास कोई सात-आठ हाथ, ऊंचाई कोई चार हाथ और पानी जाने वाला छेद प्रायः एक बित्ता बड़ा होता है। वर्षा का पानी भीतर कुंडी में जमा करने के बाद बाकी दिनों इस छेद को कपड़ों को लपेट कर बनाए गए एक डाट से ढंक कर रखते हैं। फोग वाली कुंडियां अलग-अलग आगोर के बदले एक ही बड़े आगोर में बनती हैं, कुंइयों की तरह। आगोर के साथ ही साफ लिपे-पुते सुंदर घर और वैसी ही लिपी-पुती कुंडियां चारों तरफ फैली विशाल मरुभूमि में लुकाछिपी का खेल खेलती लगती हैं।

राजस्थान में रंगों के प्रति एक विशेष आकर्षण है। लहंगे, ओढ़नी और चटकीले रंगों की पगड़ियां जीवन के सुख और दुख में रंग बदलती हैं। पर इन कुंडियों का केवल एक ही रंग मिलता है — केवल सफेद। तेज धूप और गरमी के इस इलाके में यदि कुंडियों पर कोई गहरा रंग हो तो वह बाहर की गरमी सोख कर भीतर के पानी पर भी अपना

असर छोड़ेगा। इसलिए इतना रंगीन समाज कुंडियों को सिर्फ सफेद रंग में रंगता है। सफेद परत तेज धूप की किरणों को वापस लौटा देती है। फोग की टहनियों से बना गुंबद भी इस तेज धूप में गरम नहीं होता। उसमें चटक कर दरारें नहीं पड़तीं और भीतर का पानी ठंडा बना रहता है।

पिछले दौर में किसी विभाग ने एक नई योजना के अंतर्गत उस इलाके में फोग से बनने वाली कुंडियों पर कुछ प्रयोग किए थे। फोग के बदले नई आधुनिक सामग्री— सीमेंट का उपयोग किया। प्रयोग करने वालों को लगा होगा कि यह आधुनिक कुंडी ज्यादा मजबूत होगी। पर ऐसा नहीं हुआ। सीमेंट से बनी आदर्श कुंडियों का ऊपरी गुंबद इतनी तेज गरमी सह नहीं सका, वह नीचे गहरे गड्ढे में गिर गया। नई कुंडी में भीतर की चिनाई भी रेत और चूने के बदले सीमेंट से की गई थी। उसमें भी अनगिनत दरारें पड़ गईं। फिर उन्हें ठीक करने के लिए उनमें डामर भरा गया। 'मरुभट्टी' में डामर भी पिघल गया। वर्षा में जमा किया सारा पानी रिस गया। तब लोगों ने यहां फिर से फोग, रेत और चूने से बनने वाली समयसिद्ध कुंडी को अपनाया और आधुनिक सामग्री के कारण उत्पन्न जल संकट को दूर किया।

मरुभूमि में कहीं-कहीं खड़िया पट्टी बहुत नीचे न होकर काफी ऊपर आ जाती है। चार-पांच हाथ। तब कुंई बनाना संभव नहीं होता। कुंई तो रेजाणी पानी पर चलती है। पट्टी कम गहराई पर हो तो उस क्षेत्र में रेजाणी पानी इतना जमा नहीं हो पाएगा कि वर्ष भर कुंई घड़ा भरती रह सके। इसलिए ऐसे क्षेत्रों में इसी खड़िया का उपयोग कुंडी बनाने के लिए किया जाता है। खड़िया के बड़े-बड़े टुकड़े खदान से निकाल कर लकड़ी की आग में पका लिए जाते हैं। एक निश्चित तापमान पर ये बड़े डले टूट-टूट कर छोटे-छोटे टुकड़ों में बदल जाते हैं। फिर इन्हें कूटते हैं। आगोर का ठीक चुनाव कर कुंडी की खुदाई की जाती है। भीतर की चिनाई और ऊपर का गुंबद भी इसी खड़िया चूरे से बनाया जाता है। पांच-छह हाथ के व्यास वाला यह गुंबद कोई एक बित्ता मोटा रखा जाता है। इस पर दो महिलाएं भी खड़े होकर पानी निकालें तो यह टूटता नहीं।

मरुभूमि में कई जगह चट्टानें हैं। इनसे पत्थर की पट्टियां निकलती हैं। इन पट्टियों की मदद से बड़े-बड़े कुंड तैयार होते हैं। ये पट्टियां प्रायः दो हाथ चौड़ी और चौदह हाथ लंबी रहती हैं। जितना बड़ा आगोर हो, जितना अधिक पानी एकत्र हो सकता हो, उतना ही बड़ा कुंड इन पट्टियों से ढंक कर बनाया जाता है।

घर छोटे हों, बड़े हों, कच्चे हों या पक्के — कुंडी तो उनमें पक्की तौर पर बनती ही है। मरुभूमि में गांव दूर-दूर बसे हैं। आबादी भी कम है। ऐसे छितरे हुए गांवों को

गेरू, चूने से सजे चबूतरेनुमा कुंड, रामगढ़, जैसलमेर

पानी की किसी केंद्रीय व्यवस्था से जोड़ने का काम संभव ही नहीं है। इसलिए समाज ने यहां पानी का सारा काम बिलकुल विकेंद्रित रखा, उसकी जिम्मेदारी को आपस में बूंद-बूंद बांट लिया। यह काम एक नीरस तकनीक, यांत्रिक न रह कर एक संस्कार में बदल गया। ये कुंडियां कितनी सुंदर हो सकती हैं, इसका परिचय दे सकते हैं जैसलमेर के गांव।

हर गांव में कोई पंद्रह-बीस घर ही हैं। पानी यहां बहुत ही कम बरसता है। जैसलमेर की औसत वर्षा से भी कम का क्षेत्र है यह। यहां घर के आगे एक बड़ा-सा चबूतरा बना मिलता है। चबूतरे के ऊपर और नीचे दीवारों पर रामरज, पीली मिट्टी और गेरू से बनी सुंदर अल्पनाएं — मानो रंगीन गलीचा बिछा हो। इन पर घर का सारा काम होता है। अनाज सुखाया जाता है, बच्चे खेलते हैं, शाम को इन्हीं पर बड़ों की चौपाल बैठती है और यदि कोई अतिथि आ जाए तो रात को उसका डेरा भी इन्हीं चबूतरों पर जमता है।

पर ये सुंदर चबूतरे केवल चबूतरे नहीं हैं। ये कुंड हैं। घर की छोटी-सी छत, आंगन

या सामने मैदान में बरसने वाला पानी इनमें जमा होता है। किसी बरस पानी कम गिरे और ये कुंड पूरे भर नहीं पाएं तो फिर पास-दूर के किसी कुएं या तालाब से ऊंटगाड़ी के माध्यम से पानी लाकर इनमें भर लिया जाता है।

कुंड-कुंडी जैसे ही होते हैं टांके। इनमें आंगन के बदले प्रायः घरों की छतों से वर्षा का पानी एकत्र किया जाता है। जिस घर की जितनी बड़ी छत, उसी अनुपात में उसका उतना ही बड़ा टांका। टांकों के छोटे-बड़े होने का संबंध उनमें रहने वाले परिवारों के छोटे-बड़े होने से भी है और उनकी पानी की आवश्यकता से भी। मरुभूमि के सभी गांव, शहरों के घर इसी ढंग से बनते रहे हैं कि उनकी छतों पर बरसने वाला पानी नीचे बने टांकों में आ सके। हरेक छत बहुत ही हल्की-सी ढाल लिए रहती है। ढाल के मुंह की तरफ एक साफ-सुथरी नाली बनाई जाती है। नाली के सामने ही पानी के साथ आ सकने वाले कचरे को रोकने का प्रबंध किया जाता है। इससे पानी छन कर नीचे टांके में जमा होता है। १०-१२ सदस्यों के परिवार का टांका प्रायः पंद्रह-बीस हाथ गहरा और इतना ही लंबा-चौड़ा रखा जाता है।

टांका किसी कमरे, बैठक या आंगन के नीचे रहता है। यह भी पक्की तरह से ढंका

जयगढ़ का करोड़पति टांका

रहता है। किसी कोने में लकड़ी के एक साफ-सुथरे ढक्कन से ढंकी रहती है मोखी, जिसे खोल कर बाल्टी से पानी निकाला जाता है। टांके का पानी बरस-भर पीने और रसोई के काम में लिया जाता है। इसकी शुद्धता बनाए रखने के लिए इन छतों पर भी चप्पल जूते पहन कर नहीं जाते। गरमी की रातों में इन छतों पर परिवार सोता जरूर है पर अबोध बच्चों को छतों के किसी ऐसे हिस्से में सुलाया जाता है, जो टांके से जुड़ा नहीं रहता। अबोध बच्चे रात को बिस्तरा गीला कर सकते हैं और इससे छत खराब हो सकती है।

जयगढ़ में पानी के 'खजाने' का प्रवेश-द्वार

पहली सावधानी तो यही रखी जाती है कि छत, नालियां और उससे जुड़ा टांका पूरी तरह साफ रहे। पर फिर भी कुछ वर्षों के अंतर पर गरमी के दिनों में, यानी बरसात से ठीक पहले जब वर्ष भर का पानी कम हो चुका हो, टांकों की सफाई, धुलाई भीतर से भी की जाती है। भीतर उतरने के लिए छोटी-छोटी सीढ़ियां और तल पर वही खमाड़ियो बनाया जाता है ताकि साद को आसानी से हटा सकें। कहीं-कहीं टांकों को बड़ी छतों के साथ-साथ घर के बड़े आंगन से भी जोड़ लेते हैं। तब जल संग्रह की इनकी क्षमता दुगनी हो जाती है। ऐसे विशाल टांके भले ही किसी एक बड़े घर के होते हों, उपयोग की दृष्टि से तो उन पर पूरा मोहल्ला जमा हो जाता है।

मोहल्ले, गांव, कस्बों से बहुत दूर निर्जन क्षेत्रों में भी टांके बनते हैं। बनाने वाले इन्हें अपने लिए नहीं, अपने समाज के लिए बनाते हैं। 'स्वामित्व विसर्जन' का इससे अच्छा उदाहरण शायद ही मिले कोई। ये टांके पशुपालकों, ग्वालों के काम आते हैं। सुबह कंधे पर भरी कुपड़ी (मिट्टी की चपटी सुराही) टांग कर चले ग्वाले, चरवाहे दोपहर तक भी नहीं पहुंच पाते कि कुपड़ी खाली हो जाती है। लेकिन आसपास ही मिल जाता है कोई टांका। हरेक टांके पर रस्सी बंधी बाल्टी या कुछ नहीं तो टीन का डिब्बा तो रखा ही रहता है।
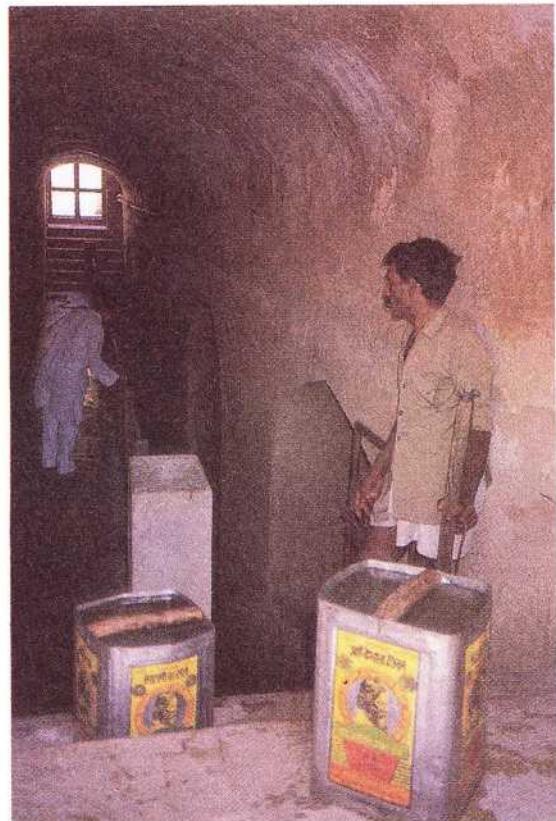
पानी के खजाने का नक्शा

रेतीले भागों में जहां कहीं भी थोड़ी-सी पथरीली या मगरा यानी मुरम वाली जमीन मिलती है, वहां टांका बना दिया जाता है। यहां जोर पानी की मात्रा पर नहीं, उसके संग्रह पर रहता है। 'चुर्रो' के पानी को भी रोक कर टांके भर लिए जाते हैं। चुर्रो यानी रेतीले टीले के बीच फंसी ऐसी छोटी जगह, जहां वर्षा का ज्यादा पानी नहीं बह सकता। पर कम बहाव भी टांके को भरने के लिए रोक लिया जाता है। ऐसे टांकों में आसपास थोड़ी 'आड़' बना कर भी पानी की आवक बढ़ा ली जाती है।

नए हिसाब से देखें तो छोटी से छोटी कुंडी, टांके में कोई दस हजार लीटर और मंझौले कुंडों में पचास हजार लीटर पानी जमा किया जाता है। बड़े कुंड और टांके तो बस लखटकिया ही होते हैं। लाख दो लाख लीटर पानी इनमें समाए रहता है।

लेकिन सबसे बड़ा टांका तो करोड़पति ही समझिए। इसमें साठ लाख गैलन यानी लगभग तीन करोड़ लीटर पानी समाता है। यह आज से कोई ३५० बरस पहले जयपुर के पास जयगढ़ किले में बनाया गया था। कोई १५० हाथ लंबा-चौड़ा यह विशाल टांका चालीस हाथ गहरा है। इसकी विशाल छत भीतर पानी में डूबे इक्यासी खंभों पर टिकाई गई है। चारों तरफ गोख, यानी गवाक्ष बने हैं, ताजी हवा और उजाले को भीतर पहुंचाने के लिए। इनसे पानी वर्ष-भर निर्दोष बना रहता है। टांके के दो कोनों से भीतर उतरने के लिए दो तरफ दरवाजे हैं। दोनों दरवाजों को एक लंबा गलियारा जोड़ता है और दोनों तरफ से पानी तक उतरने के लिए सीढ़ियां हैं। यहीं से उतर कर बहंगियों से पानी ऊपर लाया जाता है। बाहर लगे गवाक्षों में से किसी एकाध की परछांई खंभों के बीच से नीचे

पानी पर पड़ती है तो अंदाज लगता है कि पानी कितना नीला है।

यह नीला पानी किले के आसपास की पहाड़ियों पर बनी छोटी-छोटी नहरों से एक बड़ी नहर में आता है। सड़क जैसी चौड़ी यह नहर किले की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखते हुए किले की दीवार से नीचे उतर कर किले के भीतर पहुंचती है।

वर्षा से पहले नहरों की सफाई तो होती ही है पर फिर भी पहले झले का पानी इस टांके में नहीं आता। मुख्य बड़े टांके के साथ दो और टांके हैं, एक खुला और एक बंद। इन टांकों के पास खुलने वाली बड़ी नहर में दो फाटक लगे हैं। शुरू में बड़े टांके की ओर पानी ले जाने वाली नहर का फाटक बंद रखा जाता है और खुले टांके का फाटक खोल दिया जाता है। पहले झले का पानी नहरों को धोते-साफ करते हुए, खुले टांके में चला जाता है, और फिर उससे सटे बंद टांके में। इन दोनों टांकों के पानी का उपयोग पशुओं के काम आता रहा है। जयगढ़ किला था और कभी यहां पूरी फौज रहती थी। फौज में हाथी, घोड़े, ऊंट — सब कुछ था। फिर इतने बड़े किले की साफ-सफाई भी इन पहले दो टांकों के पानी से होती थी।

इस नहर से भरता है जयगढ़ का खजाना

जब पानी का पूरा रास्ता, नहरों का पूरा जाल धुल जाए, तब पहला फाटक गिरता है और दूसरा फाटक खुलता है और मुख्य टांका तीन करोड़ लीटर पानी झेलने के लिए तैयार हो जाता है। इतनी बड़ी क्षमता का यह टांका किले की जरूरत के साथ-साथ किले की सुरक्षा के लिए भी बनाया गया था। कभी किला शत्रुओं से घिर जाए तो लंबे समय तक भीतर पानी की कमी नहीं रहे।

राजा गए, उनकी फौज गई। अब आए हैं जयपुर घूमने आने वाले पर्यटक। अच्छी खासी चढ़ाई चढ़ कर आने वाले हर पर्यटक की थकान इस टांके के शीतल और निर्मल जल से दूर होती है।

टांकों और कुंडों में ठहरा पानी इतना निर्मल हो सकता है, इसका अंदाज देश-भर में बहती कहावत को भी नहीं रहा होगा।

टीलों की
पोल,
घड़सीसर

बिंदु में सिंधु समान

भक्ति में डूबे संत-कवियों ने 'बिंदु में सिंधु समान' कहा। घर-गिरस्ती में डूबे लोगों ने इसे पहले मन में और फिर अपनी धरती पर कुछ इस रीति से उतारा कि 'हेरनहार हिरान' यानी देखने वाले हैरान हो जाएं।

पालर पानी यानी वर्षा के पानी को वरुण देवता का प्रसाद मान कर ग्रहण करना और फिर उसका एक कण भी, एक बूंद भी यहां-वहां बगरे नहीं — ऐसी श्रद्धा से उसके संग्रह का काम आध्यात्मिक भी था और निपट सांसारिक भी। विशाल मरुभूमि में इसके बिना जीवन कैसे हो सकता था।

पुर शब्द सब जगह है पर कापुर शब्द शायद केवल यहीं मिलता है। कापुर यानी बुनियादी सुविधाओं से वंचित गांव। भाषा में कापुर शब्द रखा गया पर कोई गांव कापुर न कहला सके, इसका भी पक्का प्रबंध किया।

बंध-बंधा, ताल-तलाई, जोहड़-जोहड़ी, नाडी, तालाब, सरवर, सर, झील, देईबंध-जगह, डहरी, खडीन और भे — इन सबको बिंदु से भर कर सिंधु समान बनाया गया। आज के नए समाज ने जिस क्षेत्र को पानी के मामले में एक असंभव क्षेत्र माना है, वहां पुराने समाज ने कहां क्या-क्या संभव है — इस भावना से काम किया। साईं 'इतना' दीजिए के बदले साईं 'जितना' दीजिए वामे कुटुम समा कर दिखाया।

माटी और आकाश के बदलते रूपों के साथ ही यहां तालाबों के आकार, प्रकार और उनके नाम भी बदल जाते हैं। चारों तरफ मजबूत पहाड़ हों, पानी खूब गिरता हो तो उसे वर्ष भर नहीं, वर्षों तक रोक सकने वाली झीलों का, बड़े-बड़े तालाबों का निर्माण हुआ। ये बड़े काम केवल राज-परिवारों ने ही किए हों, ऐसा नहीं था। कई झील और बड़े-बड़े तालाब भीलों ने, बंजारों ने, चरवाहों ने भी वर्षों की मेहनत से तैयार किए थे।

अच्छी पगार पाने वाले बहुत से इतिहासकारों ने इस तरह के बड़े कामों को बेगार-प्रथा सें जोड़कर देखा है। पर अपवादों को नियम नहीं मान सकते हैं। इनमें से कुछ काम किसी अकाल के दौरान लोगों को थामने, अनाज पहुंचाने और साथ ही बाद में आ सकने वाले किसी और अकाल से निपट सकने की ताकत जुटाने के लिए किए गए थे तो कुछ अच्छे दौर में और अच्छे भविष्य के लिए पूरे हुए थे।

पानी की आवक पूरी नहीं हो, रोक लेने के लिए जगह भी छोटी हो तो उस जगह को छोड़ नहीं देना है — उस पर तालाब के बड़े कुटुंब की सबसे छोटी सदस्या–नाडी बनी मिलेगी। रेत की छोटी पहाड़ी, थली या छोटे से मगरे के आगोर से बहुत ही थोड़ी मात्रा में बहने वाले पानी का पूरा सम्मान करती है नाडी। उसे बह कर बर्बाद नहीं होने देती है नाडी। साधन, सामग्री कच्ची यानी मिट्टी की ही होती है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि नाडी का स्वभाव भी कच्चा ही होगा। यहां दो-सौ, चार-सौ साल पुरानी नाडियां भी खड़ी मिल जाएंगी। नाडियों में पानी महीने-डेढ़ महीने से सात-आठ महीने तक भी रुका रहता है। छोटे से छोटे गांव में एक से अधिक नाडियां मिलती हैं। मरुभूमि में बसे गांवों में इनकी संख्या हर गांव में दस-बारह भी हो सकती है। जैसलमेर में पालीवालों के ऐतिहासिक चौरासी गांवों में सात सौ से अधिक नाडियां या उनके चिन्ह आज भी देखे जा सकते हैं।

तलाई या जोहड़-जोहड़ी में पानी नाडी से कुछ ज्यादा देरी तक और कुछ अधिक मात्रा में जमा किया जाता है। इनकी पाल पर पत्थर का काम, छोटा-सा घाट, पानी में उतरने के लिए पांच-सात छोटी सीढ़ियों से लेकर महलनुमा छोटी-सी इमारत भी खड़ी मिल सकती है।

तलाई वहां भी हैं, जहां और कुछ नहीं हो सकता । राजस्थान में नमक की झीलों के आसपास फैले लंबे-चौड़े भाग में पूरी जमीन खारी है । यहां वर्षा की बूंदें धरती पर पड़ते ही खारी हो जाती हैं । भूजल, पाताल पानी खारा, ऊपर बहने वाला पालर पानी खारा और इन दो के बीच अटका रेजाणी पानी भी खारा । यहां नए नलकूप लगे, हैंडपंप लगे — सभी ने खारा पानी उलीचा । लेकिन ऐसे हिस्सों में भी चार सौ-पांच सौ साल पुरानी तलाइयां कुछ इस ढंग से बनी मिलेंगी कि वर्षा की बूंदों को खारी धरती से दो चार हाथ ऊपर उठे आगोर में समेट कर वर्ष-भर मीठा पानी देती हैं ।

ऐसी अधिकांश तलाइयां कोई चार सौ साल पुरानी हैं । यह वह दौर था जब नमक का सारा काम बंजारों के हाथ में था । बंजारे हजारों बैलों का कारवां लेकर नमक का कारोबार करने इस कोने से उस कोने तक जाते थे । ये रास्ते में पड़ने वाले गांवों के बाहरी हिस्सों में पड़ाव डालते थे । उन्हें अपने पशुओं के लिए भी पानी चाहिए था । बंजारे नमक का स्वभाव जानते थे कि वह पानी में घुल जाता है । वे पानी का भी स्वभाव जानते थे कि वह नमक को अपने में मिला लेता है — लेकिन उन्होंने इन दोनों के इस घुल-मिल कर रहने वाले स्वभावों को किस चतुराई से अलग-अलग रखा — यह बताती हैं सांभर झील के लंबे-चौड़े खारे आगोर में जरा-सी ऊपर उठ कर बनाई गई तलाइयां ।

बीसवीं सदी की सब तरह की सरकारें और इक्कीसवीं सदी में ले जाने वाली सरकार भी ऐसे खारे क्षेत्रों के गांवों के लिए मीठा पानी नहीं जुटा पाई । पर बंजारों ने तो इस इलाके का नमक खाया था — उन्हीं ने इन गांवों को मीठा पानी पिलाया है । कुछ बरस पहले नई-पुरानी सरकारों ने इन बंजारों की तलाइयों के आसपास ठीक वैसी ही नई तलाई बनाने की कोशिश की पर नमक और पानी के 'घुल-मिल' स्वभाव को वे अलग नहीं कर पाईं ।

पानी आने और उसे रोक लेने की जगह और ज्यादा मिल जाए तो फिर तलाई से आगे बढ़ कर तालाब बनते रहे हैं । इनमें वर्षा का पानी अगली वर्षा तक बना रहता है । नई भागदौड़ के कारण पुराने कुछ तालाब नष्ट जरूर हुए हैं पर आज भी वर्ष-भर भरे रहने वाले तालाबों की यहां कमी नहीं है । इसीलिए जनगणना करने वालों को भरोसा तक नहीं होता कि मरुभूमि के गांवों में इतने सारे तालाब कहां से आ गए हैं । सरकारें अपनी ऐसी रिपोर्ट में यह बतलाने से कतराती हैं कि इन्हें किनने बनाया है । यह सारा प्रबंध समाज ने अपने दम पर किया था और इसकी मजबूती इतनी कि उपेक्षा के इस लंबे दौर के बाद भी यह किसी न किसी रूप में आज भी टिका है और समाज को भी टिकाए हुए है ।

गजेटियर में जैसलमेर का वर्णन तो बहुत डरावना है : ''यहां एक भी बारामासी

नदी नहीं है। भूजल १२५ से २५० फुट और कहीं-कहीं तो ४०० फुट नीचे है। वर्षा अविश्वसनीय रूप से कम है, सिर्फ १६.४० सेंटीमीटर। पिछले ७० वर्षों के अध्ययन के अनुसार वर्ष के ३६५ दिनों में से ३५५ दिन सूखे गिने गए हैं। यानी १२० दिन की वर्षा ऋतु यहां अपने संक्षिप्ततम रूप में केवल १० दिन के लिए आती है।"

मीठी तलाई में बदलता नमक का स्वभाव

लेकिन यह सारा हिसाब-किताब कुछ नए लोगों का है। मरुभूमि के समाज ने १० दिन की वर्षा में करोड़ों रजत बूंदों को देखा और फिर उनको एकत्र करने का काम घर-घर में, गांव-गांव में और अपने शहरों तक में किया। इस तपस्या का परिणाम सामने है :

जैसलमेर जिले में आज ५१५ गांव हैं। इनमें से ५३ गांव किसी न किसी वजह से उजड़ चुके हैं। आबाद हैं ४६२। इनमें से सिर्फ एक गांव को छोड़ हर गांव में पीने के पानी का प्रबंध है। उजड़ चुके गांवों तक में यह प्रबंध कायम मिलता है। सरकार के आंकड़ों के अनुसार जैसलमेर के ९९.७८ प्रतिशत गांवों में तालाब, कुएं और 'अन्य' स्रोत हैं। इनमें नल, ट्यूबवैल जैसे नए इंतजाम कम ही हैं। इस सीमांत जिले के ५१५

गांवों में से केवल १.७५ प्रतिशत गांवों में बिजली है । इसे हिसाब की सुविधा के लिए २ प्रतिशत कर लें तब भी ग्यारह गांव बैठेंगे । यह आंकड़ा पिछली जनगणना रिपोर्ट का है । मान लें कि इस बीच में और भी विकास हुआ हैं तो पहले के ११ गांवों में २०-३० गांव और जोड़ लें । ५१५ में से बिजली वाले गांवों की संख्या तब भी नगण्य ही होगी । इसका एक अर्थ यह भी है कि बहुत-सी जगह ट्यूबवैल बिजली से नहीं, डीजल तेल से चलते हैं । तेल बाहर दूर से आता है । तेल का टैंकर न आ पाए तो पंप नहीं चलेंगे, पानी नहीं मिलेगा । सब कुछ ठीक-ठाक चलता रहा तो भी आगे-पीछे ट्यूबवैल से जलस्तर घटेगा ही । उसे जहां के तहां थामने का कोई तरीका अभी तो है नहीं । वैसे कहा जाता है कि जैसलमेर के नीचे भूजल का अच्छा भंडार है । पर जल की इस गुल्लक में बिना कुछ डाले सिर्फ निकालते रहने की प्रवृत्ति कभी तो धोखा देगी ही ।

एक बार फिर दुहरा लें कि मरुभूमि के सबसे विकट माने गए इस क्षेत्र में ९९.७८ प्रतिशत गांवों में पानी का प्रबंध है और अपने दम पर है । इसी के साथ उन सुविधाओं की तुलना करें जिन्हें जुटाना नए समाज की नई संस्थाओं, मुख्यतः सरकार की जिम्मेदारी मानी जाती है । पक्की सड़कों से अभी तक केवल १९ प्रतिशत गांव जुड़ पाए हैं, डाक आदि की सुविधा ३० प्रतिशत तक फैल पाई है । चिकित्सा आदि की देखरेख ९ प्रतिशत तक पहुंच सकी है । शिक्षा सुविधा इन सबकी तुलना में थोड़ी बेहतर है — ५० प्रतिशत गांवों में । यहां इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि डाक, चिकित्सा, शिक्षा या बिजली की सुविधाएं जुटाने के लिए सिर्फ एक निश्चित मात्रा में पैसा चाहिए । राज्य के कोष में उसका प्रावधान रखा जा सकता है, जरूरत पड़ने पर किसी और मद से या अनुदान के सहारे उसे बढ़ाया जा सकता है । फिर भी हम पाते हैं कि ये सेवाएं यहां प्रतीक रूप में ही चल पा रही हैं ।

लेकिन पानी का काम ऐसा नहीं है । प्रकृति से इस क्षेत्र को मिलने वाले पानी को समाज बढ़ा नहीं सकता । उसका 'बजट' स्थिर है । बस उसी मात्रा से पूरा काम करना है । इसके बाद भी समाज ने इसे कर दिखाया है । ५१५ गांवों में नाडियों, तलाइयों की गिनती छोड़ दें, बड़े तालाबों की संख्या २९४ है ।

जिसे नए लोगों ने निराशा का क्षेत्र माना, वहां सीमा के छोर पर, पाकिस्तान से थोड़ा पहले आसूताल यानी आस का ताल है । जहां तापमान ५० अंश छू लेता है, वहां सितलाई यानी शीतल तलाई है और जहां बादल सबसे ज्यादा 'धोखा' देते हैं, वहां बदरासर भी है ।

पानी का सावधानी से संग्रह और फिर पूरी किफायत से उसका उपयोग — इस

मृगतृष्णा
झुठलाता
घड़सीसर

स्वभाव को न समझ पाने वाले गजेटियर और जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, उस राज और समाज को, उसकी नई सामाजिक संस्थाओं तक को यह क्षेत्र "वीरान, वीभत्स, स्फूर्तिहीन और जीवनहीन" दिखता है ।लेकिन गजेटियर में यह सब लिख जाने वाला भी जब घड़सीसर पहुंचा है तो "वह भूल जाता है कि वह मरुभूमि की यात्रा पर है ।"

कागज में, पर्यटन के नक्शों में जितना बड़ा शहर जैसलमेर हैं, लगभग उतना ही बड़ा तालाब घड़सीसर है । कागज की तरह मरुभूमि में भी ये एक दूसरे से सटे खड़े हैं — बिना घड़सीसर के जैसलमेर नहीं होता । लगभग ८०० बरस पुराने इस शहर के कोई ७०० बरस, उनका एक-एक दिन घड़सीसर की एक-एक बूंद से जुड़ा रहा है ।

रेत का एक विशाल टीला सामने खड़ा है । पास पहुंचने पर भी समझ नहीं आएगा कि यह टीला नहीं, घड़सीसर की ऊंची-पूरी, लंबी-चौड़ी पाल है । जरा और आगे बढ़ें तो दो बुर्ज और पत्थर पर सुंदर नक्काशी के पांच झरोखों और दो छोटी और एक बड़ी पोल का प्रवेश द्वार सिर उठाए खड़ा दिखेगा । बड़ी और छोटी पोलों के सामने नीला आकाश झलकता है । जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते हैं, प्रवेश द्वार से दिखने वाली झलक में नए-नए दृश्य जुड़ते जाते हैं । यहां तक पहुंच कर समझ में आएगा कि पोल से जो नीला आकाश दिख रहा था, वह तो सामने फैला नीला पानी है । फिर दाईं-बाईं तरफ सुंदर पक्के घाट, मंदिर, पटियाल, बारादरी, अनेक स्तंभों से सजे बरामदे, कमरे तथा और न जाने क्या-क्या जुड़ जाता है । हर क्षण बदलने वाले दृश्य पर जब तालाब के पास पहुंचकर विराम लगता है, तब आंखें सामने दिख रहे सुंदर दृश्य पर कहीं एक जगह टिक नहीं पातीं । पुतलियां हर क्षण घूम-घूम कर उस विचित्र दृश्य को नाप लेना चाहती हैं ।

पर आंखें इसे नाप नहीं पातीं । तीन मील लंबे और कोई एक मील चौड़े आगर वाले इस तालाब का आगोर १२० वर्गमील क्षेत्र में फैला हुआ है । इसे जैसलमेर के राजा महारावल घड़सी ने विक्रम संवत १३९१ में यानी सन् १३३५ में बनाया था । दूसरे राजा तालाब बनवाया करते थे, लेकिन महारावल घड़सी ने तो इसे खुद बनाया था । महारावल रोज ऊंचे किले से उतर कर यहां आते और खुदाई, भराई आदि हरेक काम में खुद जुटे रहते ।

यों यह दौर जैसलमेर राज के लिए भारी उथल-पुथल का दौर था । भाटी वंश गद्दी की छीनाझपटी के लिए भीतरी कलह, षडयंत्र और संघर्ष से गुजर रहा था । मामा अपने भानजे पर घात लगाकर आक्रमण कर रहा था, सगे भाई को देश निकाला दिया जा रहा था तो कहीं किसी के प्याले में जहर घोला जा रहा था । राजवंश में आपसी कलह तो थी ही, उधर राज और शहर जैसलमेर भी चाहे जब देशी-विदेशी हमलावरों से घिर जाता था और जब-तब पुरुष वीरगति को प्राप्त होते और स्त्रियां जौहर की ज्वाला में अपने को

स्वाहा कर देतीं। ऐसे धधकते दौर में खुद घड़सी ने राठौरों की सेना की मदद से जैसलमेर पर अधिकार किया था। इतिहास की किताबों में घड़सी का काल जय-पराजय, वैभव-पराभव, मौत के घाट और समर-सागर जैसे शब्दों से भरा पड़ा है।

तब भी यह सागर बन रहा था। वर्षों की इस योजना पर काम करने के लिए घड़सी ने अपार धीरज और अपार साधन जुटाए थे और फिर इसकी सबसे बड़ी कीमत भी चुकाई। पाल बन रही थी, महारावल पाल पर खड़े होकर सारा काम देख रहे थे। राज परिवार में चल रहे भीतरी षडयंत्र ने पाल पर खड़े घड़सी पर घातक हमला किया। राजा की चिता पर रानी का सती हो जाना उस समय का चलन था। लेकिन रानी विमला सती नहीं हुईं। राजा का सपना रानी ने पूरा किया।

रेत के इस सपने में दो रंग हैं। नीला रंग है पानी का और पीला रंग है तीन-चार मील के तालाब की कोई आधी गोलाई में बने घाट, मंदिरों, बुर्ज और बारादरी, बरामदों का। लेकिन यह सपना दिन में दो बार बस केवल एक रंग में रंग जाता है। ऊगते और डूबते समय सूरज घड़सीसर में मन-भर पिघला सोना उंडेल देता है। मन-भर, यानी माप-तौल वाला मन नहीं, सूरज का मन भर जाए इतना।

लोगों ने भी घड़सीसर में अपनी-अपनी सामर्थ्य से सोना डाला था। तालाब राजा का था पर प्रजा उसे संवारती, सजाती चली गई। पहले दौर में बने मंदिर, घाट और जलमहल आदि का विस्तार होता गया। जिसे जब भी जो कुछ अच्छा सूझा, उसे उसने घड़सीसर में न्यौछावर कर दिया। राजा प्रजा की उस जुगलबंदी में एक अद्‌भुत गीत बन गया था घड़सीसर। एक समय घाट पर पाठशालाएं भी बनीं। इनमें शहर और आसपास के गांवों के छात्र आकर रहते थे और वहीं गुरू से ज्ञान पाते थे। पाल पर एक तरफ छोटी-छोटी रसोइयां और कमरे भी हैं। दरबार में, कचहरी में जिनका कोई काम अटकता, वे गांवों से आकर यहीं डेरा जमाते। नीलकंठ और गिरधारी के मंदिर बने। यज्ञशाला बनी। जमालशाह पीर की चौकी बनी। सब एक घाट पर।

काम-धंधे के कारण मरुभूमि छोड़कर देश में कहीं और जा बसे परिवारों का मन भी घड़सीसर में अटका रहता। इसी क्षेत्र से मध्यप्रदेश के जबलपुर में जाकर रहने लगे सेठ गोविंददास के पुरखों ने यहां लौटकर पठसाल पर एक भव्य मंदिर बनवाया था। इस प्रसंग में यह भी याद किया जा सकता है कि तालाबों की ऐसी परंपरा से जुड़े लोग, परिवार यहां से बाहर गए तो वहां भी उन्होंने तालाब बनवाए। सेठ गोविंददास के पुरखों ने जबलपुर में भी एक सुंदर तालाब अपनी बड़ी बाखर यानी घर के सामने बनवाया था। हनुमानताल नामक इस तालाब में घड़सीसर की प्रेरणा देखी जा सकती है।

पानी तो शहर-भर का यहीं से जाता था । यों तो दिन-भर यहां से पानी भरा जाता लेकिन सुबह और शाम तो सैकड़ों पनिहारिनों का मेला लगता । यह दृश्य शहर में नल आने से पहले तक रहा है । सन् १९१९ में घड़सीसर पर उम्मेदसिंहजी महेता की एक गजल ऐसे दृश्यों का बहुत सुंदर वर्णन करती है । 'भादों की कजली', तीज के मेले पर सारा शहर सज-धज कर घड़सीसर आ जाता । सिर्फ नीले और पीले रंग के इस तालाब में तब प्रकृति के सब रंग छिटक जाते ।

घड़सीसर से लोगों का प्रेम एकतरफा नहीं था । लोग घड़सीसर आते और घड़सीसर भी लोगों तक जाता था और उनके मन में बस जाता । दूर सिंध में रहने वाली टीलों नामक गणिका के मन ने संभवतः ऐसे ही किसी क्षण में कुछ निर्णय ले लिए थे ।

तालाब पर मंदिर, घाट-पाट सभी कुछ था । ठाट में कोई कमी नहीं थी । फिर भी टीलों को लगा कि इतने सुनहरे सरोवर का एक सुनहरा प्रवेश द्वार भी होना चाहिए । टीलों ने घड़सीसर के पश्चिमी घाट पर प्रवेश द्वार — पोल बनाना तय कर लिया । पत्थर पर बारीक नक्काशी वाले सुंदर झरोखों से युक्त विशाल द्वार अभी पूरा हो ही रहा था कि कुछ लोगों ने महारावल के कान भरे, "क्या आप एक गणिका द्वारा बनाए गए प्रवेश द्वार से घड़सीसर में प्रवेश किया करेंगे ?" विवाद शुरू हो गया । उधर द्वार पर काम चलता रहा । एक दिन राजा ने इसे गिराने का फैसला ले लिया । टीलों को खबर लगी । रातों-रात टीलों ने प्रवेश द्वार की सबसे ऊंची मंजिल में मंदिर बनवा दिया । महारावल ने अपना निर्णय बदला । तब से पूरा शहर इसी सुंदर पोल से तालाब में प्रवेश करता है और इसे आज भी टीलों के नाम से ही याद रखे है ।

टीलों की पोल के ठीक सामने तालाब की दूसरी तरफ परकोटेनुमा एक गोल बुर्ज है । तालाबों के बाहर तो अमराई, बगीचे आदि होते ही हैं पर इस बुर्ज में तालाब के भीतर 'बगीची' बनी है जिसमें लोग गोठ करने, यानी आनंद-मंगल मनाने आते रहते थे । इसी के साथ पूरब में एक और बड़ा गोल परकोटा है । इसमें तालाब की रक्षा करने वाली फौजी टुकड़ी रहती थी । देशी-विदेशी शत्रुओं से घिरे इस तालाब की सुरक्षा का भी पक्का प्रबंध था क्योंकि यह पूरे शहर को पानी देता था ।

मरुभूमि में पानी कितना भी कम बरसता हो, घड़सीसर का आगोर अपने मूल रूप में इतना बड़ा था कि वह वहां बरसने वाली एक-एक बूंद को समेट कर तालाब को लबालब भर देता था । घड़सीसर के सामने पहाड़ पर बने ऊंचे किले पर चढ़ कर देखें या नीचे आगोर में पैदल घूमें, बार-बार समझाए जाने पर भी इस तालाब में पानी लाने का पूरा प्रबंध आसानी से समझ में नहीं आता । दूर क्षितिज तक से इसमें पानी आता था । विशाल

महल जोहड़ा

भाग के पानी को समेट कर उसे तालाब की तरफ मोड़ कर लाने के लिए कोई आठ किलोमीटर लंबी आड़, यानी एक तरह की मेड़बंदी की गई थी। फिर इतनी मात्रा में चले आ रहे पानी की ताकत को तोला गया था और इसकी टक्कर की मार को कम करने के लिए पत्थर की चादर यानी एक और लंबी मजबूत दीवार बनाई गई थी। पानी इस पर टकरा कर अपना सारा वेग तोड़ कर बड़े धीरज के साथ घड़सीसर में प्रवेश करता है। यह चादर न होती तो घड़सीसर का आगर, उसके सुंदर घाट — सब कुछ उखड़ सकता है।

फिर इस तरह लबालब भरे घड़सीसर की रखवाली नेष्टा के हाथ आ जाती है। नेष्टा यानी तालाब का वह अंग जहां से उसका अतिरिक्त पानी तालाब की पाल को नुकसान पहुंचाए बिना बाहर बहने लगता है। नेष्टा चलता है और इतने विशाल तालाब को तोड़ सकने वाले अतिरिक्त पानी को बाहर बहाने लगता है। लेकिन यह 'बहाना' भी बहुत विचित्र था। जो लोग एक-एक बूंद एकत्र कर घड़सीसर भरना जानते थे, वे उसके अतिरिक्त पानी को भी केवल पानी नहीं, जलराशि मानते थे। नेष्टा से निकला पानी आगे एक और तालाब में जमा कर लिया जाता था। नेष्टा तब भी नहीं रुकता तो इस तालाब का नेष्टा भी चलने लगता। फिर उससे भी एक और तालाब भर जाता। यह सिलसिला — आसानी से भरोसा नहीं होगा — पूरे नौ तालाबों तक चलता रहता। नौताल, गोविंदसर, जोशीसर, गुलाबसर, भाटियासर, सूदासर, मोहतासर, रतनसर और फिर किसनघाट। यहां तक पहुंचने पर भी पानी बचता तो किसनघाट के बाद उसे कई बेरियों में, यानी छोटे-छोटे कुएंनुमा कुंडों में भर कर रख दिया जाता। पानी की एक-एक बूंद जैसे शब्द और वाक्य घड़सीसर से किसनघाट तक के ६.५ मील लंबे क्षेत्र में अपना ठीक अर्थ पाते थे।

लेकिन आज जिनके हाथ में जैसलमेर है, राज है, वे घड़सीसर का अर्थ ही भूल चले हैं तो उसके नेष्टा से जुड़े नौ तालाबों की याद उन्हें भला कैसे रहेगी। घड़सीसर के आगोर में वायुसेना का हवाई अड्डा बन गया है। इसलिए आगोर के इस हिस्से का पानी अब तालाब की ओर न आकर कहीं और बह जाता है। नेष्टा और उसके रास्ते में पड़ने वाले नौ तालाबों के आसपास भी बेतरतीब बढ़ते शहर के मकान, नई गृह निर्माण समितियां, और तो और पानी का ही नया काम करने वाला इंदिरा नहर प्राधिकरण का दफ्तर, उसमें काम करने वालों की कालोनी बन गई है। घाट, पठसाल (पाठशालाएं), रसोई, बारादरी, मंदिर ठीक सार-संभाल के अभाव में धीरे-धीरे टूट चले हैं। आज शहर ल्हास का वह खेल भी नहीं खेलता, जिसमें राजा-प्रजा सब मिलकर घड़सीसर की सफाई करते थे, साद निकालते थे। तालाब के किनारे स्थापित पत्थर का जलस्तंभ भी थोड़ा-सा हिलकर एक

तरफ झुक गया है। रखवाली करने वाली फौज की टुकड़ी के बुर्ज के पत्थर भी ढह गए हैं।

घाट की बारादरी पर कहीं-कहीं कब्जे हो गए हैं। पाठशालाओं में, जहां कभी परंपरागत ज्ञान का प्रकाश होता था, आज कचरे का ढेर लगा है। जैसलमेर पिछले कुछ वर्षों से विश्व के पर्यटन नक्शे पर आ गया है। ठंड के मौसम में — नवंबर से फरवरी तक यहां दुनिया भर के पर्यटक आते हैं और उनके लिए इतना सुंदर तालाब एक बड़ा आकर्षण है। इसीलिए दो वर्ष पहले सरकार का कुछ ध्यान इस तरफ गया था। आगोर से पानी की आवक में आई कमी को इंदिरा गांधी नहर से पानी लाकर दूर करने की कोशिश भी की गई। बाकायदा उद्घाटन हुआ इस योजना का। पर एक बार की भराई के बाद कहीं दूर से आ रही पाइप लाइन टूट-फूट गई। फिर उसे सुधारा नहीं जा सका। घड़सीसर अभी भी भरता है, वर्षा के पानी से।

६६८ बरस पुराना घड़सीसर मरा नहीं है। बनाने वालों ने उसे समय के थपेड़े सह पाने लायक मजबूती दी थी। रेत की आंधियों के बीच अपने तालाबों की उम्दा सार-संभाल की परंपरा डालने वालों को शायद इसका अंदाज नहीं था कि अभी उपेक्षा की आंधी चलेगी। लेकिन इस आंधी को भी घड़सीसर और उसे आज भी चाहने वाले लोग बहुत धीरज के साथ सह रहे हैं। तालाब पर पहरा देने वाली फौजी टुकड़ी आज भले ही नहीं हो, लोगों के मन का कुछ पहरा आज भी है। पहली किरन के साथ मंदिरों की घंटियां बजती हैं। दिन-भर लोग घाटों पर आते-जाते हैं। कुछ लोग यहां घंटों मौन बैठे-बैठे घड़सीसर को निहारते रहते हैं तो कुछ गीत गाते, रावणहत्था (एक तरह की सारंगी) बजाते हुए मिलते हैं। घड़सीसर से बहुत दूर रेत के टीले पार करते ऊंट वाले इसके ठंडे पानी के गुणों को गुनगुनाते मिल जाएंगे।

पनिहारिनें आज भी घाटों पर आती हैं। पानी ऊंटगाड़ियों से भी जाता है और दिन में कई बार ऐसी टैंकर गाड़ियां भी यहां देखने मिल जाती हैं, जिनमें घड़सीसर से पानी भरने के लिए डीजल पंप तक लगा रहता है!

घड़सीसर आज भी पानी दे रहा है। और इसीलिए सूरज आज भी ऊगते और डूबते समय घड़सीसर में मन-भर सोना उंडेल जाता है।

घड़सीसर मानक बन चुका था। उसके बाद किसी और तालाब को बनाना बहुत कठिन रहा होगा। पर जैसलमेर में हर सौ-पचास बरस के अंतर पर तालाब बनते रहे — एक से एक, मानक घड़सीसर के साथ मोती की तरह गुंथे हुए।

घड़सीसर से कोई १७५ बरस बाद बना था जैतसर। यह था तो बंधनुमा ही, पर अपने बड़े बगीचे के कारण बाद में बस इसे 'बड़ा बाग' की तरह ही याद रखा गया।

इस पत्थर के बांध ने जैसलमेर के उत्तर की तरफ खड़ी पहाड़ियों से आने वाला सारा पानी रोक लिया है। एक तरफ जैतसर है और दूसरी तरफ उसी पानी से सिंचित बड़ा बाग। दोनों का विभाजन करती है बांध की दीवार। लेकिन यह दीवार नहीं, अच्छी खासी चौड़ी सड़क लगती है जो घाटी पार कर सामने की पहाड़ी तक जाती है। दीवार के नीचे बनी सिंचाई नाली का नाम है राम नाल। राम नाल नहर बंध की तरफ सीढ़ीनुमा है। जैतसर में पानी का स्तर ज्यादा हो या कम, नहर का सीढ़ीनुमा ढांचा पानी को बड़े बाग की तरफ उतारता रहता है। बड़ा बाग में पहुंचने पर राम नाल राम नाम की तरह कण-कण में बंट जाती है। नहर के पहले छोर पर एक कुआं भी है। पानी सूख जाए, नहर बंद हो जाए तो भूमि में रिसन के पानी से भरे कुएं का उपयोग होने लगता है। इस बड़े कुएं में चड़स चलती है। कभी इस पर रहट भी चलती थी। बाग में छोटे-छोटे कुओं की तो कोई गिनती ही नहीं है।

बड़ा बाग सचमुच बहुत हरा और बड़ा है। विशाल और ऊंची अमराई और उसके साथ-साथ तरह-तरह के पेड़-पौधे। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में, वहां भी प्रायः नदी के किनारे मिलने वाला अर्जुन का पेड़ भी बड़ा बाग में मिल जाएगा। घने बड़ा बाग में सूरज की किरणें पेड़ों की पत्तियों में अटकी रहती हैं, हवा चले, पत्तियां हिलें तो मौका पाकर किरणें नीचे छन-छन कर टपकती रहती हैं। बांध के उस पार पहाड़ियों पर राजघराने का श्मशान है। यहां दिवंगतों की स्मृति में असंख्य सुंदर छतरियां बनी हैं।

अमर सागर घड़सीसर से ३२५ साल बाद बना है। किसी और दिशा में बरसने वाले पानी को रोकना मुख्य कारण रहा ही होगा लेकिन अमर सागर बनाने वाला समाज शायद यह भी जताना चाहता था कि उपयोगी और सुंदर तालाबों को बनाते रहने की उसकी इच्छा अमर है। पत्थर के टुकड़ों को जोड़-जोड़ कर कितना बेजोड़ तालाब बन सकता है — अमर सागर इसका अद्‌भुत उदाहरण है। तालाब की चौड़ाई की एक पाल, भुजा सीधी खड़ी उंची दीवार से बनाई गई है। दीवार पर जुड़ी सुंदर सीढ़ियां झरोखों और बुर्ज में से होती हुई नीचे तालाब में उतरती हैं। इसी दीवार के बड़े सपाट भाग में अलग-अलग उंचाई पर पत्थर के शेर, हाथी-घोड़े बने हैं। ये सुंदर सजी-धजी मूर्तियां तालाब का जलस्तर बताती हैं। पूरे शहर को पता चल जाता है कि पानी कितना आया है और कितने महिनों तक चलेगा।

अमर सागर का आगोर इतना बड़ा नहीं है कि वहां से साल-भर का पानी जमा हो जाए। गर्मी आते-आते यह तालाब सूखने लगता है। इसका अर्थ था कि जैसलमेर के लोग इतने सुंदर तालाब को उस मौसम में भूल जाएं, जिसमें पानी की सबसे ज्यादा

सुंदरता का जलस्तर दर्शाती मूर्तियां

जरूरत रहती है । लेकिन जैसलमेर के शिल्पियों ने यहां कुछ ऐसे काम किए जिनसे शिल्प शास्त्र में कुछ नए पन्ने जुड़ सकते हैं । यहां तालाब के तल में सात सुंदर बेरियां बनाई गईं । बेरी एक तरह की बावड़ी, पगबाव भी कहलाती है । तालाब का पानी सूख जाता है, लेकिन उसके रिसाव से भूमि का जल स्तर ऊपर उठ जाता है । इसी साफ छने पानी से बेरियां भरी रहती हैं । बेरियां भी ऐसी बनी हैं कि अपना जल खो बैठा अमर सागर अपनी सुंदरता नहीं खो देता । सभी बेरियों पर पत्थर के सुन्दर चबूतरे, स्तंभ, छतरियां और नीचे उतरने के लिए कलात्मक सीढ़ियां हैं । गर्मी में, बैसाख में भी मेला भरता है और बरसात में, भादों में भी । सूखे अमर सागर में ये बेरियां किसी महल के टुकड़े जैसी लगती हैं और जब यह भर जाता है तो लगता है तालाब में छतरीदार बड़ी-बड़ी नावें तैर रही हैं ।

जैसलमेर मरुभूमि का एक ऐसा राज रहा है, जिसका व्यापारी-दुनिया में डंका बजता था । तब यहां सैकड़ों ऊंटों के कारवां रोज आते थे । आज के सिंध, पाकिस्तान,

अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, अफ्रीका और दूर रूस के कजाकिस्तान, उजबेकिस्तान आदि का माल उतरता था। यहां के माणक चौक पर आज सब्जी-भाजी बिकती है पर एक जमाना था जब यहां माणिक-मोती बिकते थे। ऊंटों की कतार संभालने वाले कतारिए यहां लाखों का माल उतारते-लादते थे। सन् १८०० के प्रारंभ तक जैसलमेर ने अपना वैभव नहीं खोया था। तब यहां की जनसंख्या ३५,००० थी। आज यह घट कर आधी रह गई है।

लेकिन बाद में मंदी के दौर में भी जैसलमेर और उसके आसपास तालाब बनाने का काम मंदा नहीं पड़ा। गजरूप सागर, मूल सागर, गंगा सागर, डेडासर, गुलाब तालाब और ईसरलालजी का तालाब — एक के बाद एक तालाब बनते चले गए। इस शहर में तालाब इतने बने कि उनकी पूरी गिनती भी कठिन है। पूरी मान ली गई सूची में यहां कोई भी चलते-फिरते दो चार नाम जोड़ कर हंस देता है।

तालाबों की यह सुंदर कड़ी अंग्रेजों के आने तक टूटी नहीं थी। इस कड़ी की मजबूती सिर्फ राजाओं, रावलों, महारावलों पर नहीं छोड़ी गई थी। समाज के वे अंग भी, जो आज की परिभाषा में आर्थिक रूप से कमजोर माने जाते हैं, तालाबों की कड़ी को मजबूत बनाए रखते थे।

मेघा ढोर चराया करता था। यह किस्सा ५०० बरस पहले का है। पशुओं के साथ मेघा भोर सुबह निकल जाता। कोसों तक फैला सपाट तपता रेगिस्तान। मेघा दिन-भर का पानी अपने साथ एक कुपड़ी, मिट्टी की चपटी सुराही में ले जाता। शाम वापस लौटता। एक दिन कुपड़ी में थोड़ा-सा पानी बच गया। मेघा को न जाने क्या सूझा, उसने एक छोटा-सा गड्ढा किया, उसमें कुपड़ी का पानी डाला और आक के पत्तों से गड्ढे को अच्छी तरह ढंक दिया।

चराई का काम, आज यहां, कल कहीं और। मेघा दो दिन तक उस जगह पर नहीं आ सका। वहां वह तीसरे दिन पहुंच पाया। उत्सुक हाथों ने आक के पत्ते धीरे से हटाए। गड्ढे में पानी तो नहीं था पर ठंडी हवा आई। मेघा के मुंह से शब्द निकला —'बाफ'। मेघा ने सोचा कि यहां इतनी गरमी में थोड़े से पानी की नमी बची रह सकती है तो फिर यहां तालाब भी बन सकता है।

मेघा ने अकेले ही तालाब बनाना शुरू किया। अब वह रोज अपने साथ कुदाल-तगाड़ी भी लाता। दिन-भर अकेले मिट्टी खोदता और पाल पर डालता। गाएं भी वहीं आसपास चरती रहतीं। भीम जैसी शक्ति नहीं थी, लेकिन भीम की शक्ति जैसा संकल्प था मेघा के पास। दो वर्ष वह अकेले ही लगा रहा। सपाट रेगिस्तान में पाल का विशाल घेरा अब दूर से ही दिखने लगा था। पाल की खबर आसपास के गांवों को भी

लगी । अब रोज सुबह गांवों से बच्चे और दूसरे लोग भी मेघा के साथ आने लगे । सब मिलकर काम करते । १२ साल हो गए थे, अब भी विशाल तालाब पर काम चल रहा था । लेकिन मेघा की उमर पूरी हो गई । पत्नी सती नहीं हुई । अब तालाब पर मेघा के बदले वह काम करने आती । ६ महीने में तालाब पूरा हुआ । बाफ यानी भाप के कारण बनना शुरू हुआ था इसलिए इस जगह का नाम भी बाफ पड़ा जो बाद में बिगड़ कर बाप हो गया । चरवाहे मेघा को समाज ने मेघोजी की तरह याद रखा और तालाब की पाल पर ही उनकी सुंदर छतरी और उनकी पत्नी की स्मृति में वहीं एक देवली बनाई गई ।

अकाल तक में नहीं सूखता जसेरी का जस

बाप बीकानेर-जैसलमेर के रास्ते में पड़ने वाला छोटा-सा कस्बा है । चाय और कचौरी की ५-७ दुकानों वाला बस अड्डा है । बसों से तिगुनी ऊंची पाल अड्डे के बगल में खड़ी है । गर्मी में पाल के इस तरफ लू चलती है, उस तरफ मेघोजी के तालाब में लहरें उठती हैं । बरसात के दिनों में तो तालाब में लाखेटा (द्वीप) 'लग' जाता है । तब पानी ४ मील

में फैल जाता है। मेघ और मेघराज भले ही यहां कम आते हों, लेकिन मरुभूमि में मेघोजी जैसे लोगों की कमी नहीं रही।

राजस्थान के तालाबों का यह जसढोल जसेरी नाम के एक अद्‌भुत तालाब के बिना पूरा नहीं हो सकता। जैसलमेर से कोई ४० किलोमीटर दूर डेढ़ा गांव के पास बना यह तालाब पानी रोकने की सारी सीमाएं तोड़ देता है। चारों तरफ तपता रेगिस्तान है पर जसेरी का न तो पानी सूखता है न उसका यश ही। जाल और देशी बबूल के पेड़ों से ढंकी पाल पर एक छोटा-सा सुंदर घाट और फिर तालाब के एक कोने में पत्थर की सुंदर छतरी — कहने लायक कुछ खास नहीं मिलेगा यहां। पर किसी भी महीने में यहां जाएं, साफ नीले पानी में लहरें उठती मिलेंगी, पक्षियों का मेला मिलेगा। जसेरी का पानी सूखता नहीं। बड़े से बड़े अकाल में भी जसेरी का यह जस सूखा नहीं है।

जसेरी तालाब भी है और एक बड़ी विशाल कुंई भी। इसके आगर के नीचे कुंई की तरह बिट्टू रो बल्लियो है, यानी पत्थर की पट्टी चलती है। इसे खोदते समय इस पट्टी का पूरा ध्यान रखा गया। उसे कहीं से भी टूटने नहीं दिया गया। इस तरह इसमें पालर पानी और रेजाणी पानी का मेल बन जाता है। पिछली वर्षा का पानी सूखता नहीं और फिर अगली वर्षा का पानी आ मिलता है — जसेरी हर बरस बरसी बूंदों का संगम है।

कहा जाता है कि तालाब के बीच में एक पगबाव, यानी बावड़ी भी है और उसी के किनारे तालाब को बनाने वाले पालीवाल ब्राह्मण परिवार की ओर से एक ताम्रपत्र लगा है। लेकिन किसी ने इसे पढ़ा नहीं है क्योंकि तालाब में पानी हमेशा भरा रहता है। बावड़ी तथा ताम्रपत्र देखने, पढ़ने का कोई मौका ही नहीं मिला है। संभवतः जसेरी बनाने वालों ने बहुत सोच समझ कर ताम्रपत्र को तालाब के बीच में लगाया था — लोग ताम्रपत्र के बदले चांदी जैसे चमकीले तालाब को पढ़ते हैं और इसका जस फैलाते जाते हैं।

आसपास के एक या दो नहीं, सात गांव इसका पानी लेते हैं। कई गांवों का पशुधन जसेरी की सम्पन्नता पर टिका हुआ है। अन्नपूर्णा की तरह लोग इसका वर्णन जलपूर्णा की तरह करते हैं। और फिर इसके जस की एक सबसे बड़ी बात यह भी बताते हैं कि जसेरी में अथाह पानी के साथ-साथ ममता भी भरी है — आज तक इसमें कोई डूबा नहीं है। कलत (साद) इसमें भी आई है — फिर भी इसकी गहराई इतनी है कि ऊंट पर बैठा सवार डूब जाए — लेकिन आज तक इसमें कोई डूब कर मरा नहीं है। इसीलिए जसेरी को निर्दोष तालाब भी कहा गया है।

पानी की ऐसी निर्दोष व्यवस्था करने वाला समाज, बिंदु में सिंधु देखने वाला समाज हेरनहार को हिरान कर देता है।

जल और अन्न का अमरपटो

ज्ञानी ने पूछा, "कौन-सा तप सबसे बड़ा है ?" सीधे-सादे ग्वाले ने उत्तर दिया, "आंख रो तो तप भलो ।"

आंख का तप ही सबसे बड़ा तप है । अपने आसपास के संसार को ठीक ढंग से देखने का अनुभव और पीढ़ियों के ऐसे अनुभव से बना एक दृष्टिकोण — यह तप इस लोक से उस लोक के जीवन को सरल बनाता है । आंख के इस तप ने जल के साथ-साथ मरुभूमि में अन्न जुटाने की भी अनोखी साधना की । इसका साधन बनी खडीन ।

लूनी नदी जैसे एकाध अपवाद छोड़ दें तो मरुभूमि में अधिकांश नदियां बारहमासी नहीं हैं । ये कहीं से प्रारंभ होती हैं, बहती हैं और फिर मरुभूमि में ही विलीन हो जाती हैं । पर आंख के तप ने इनके प्रवाह के पथ को बड़ी बारीकी से देख कर कई ऐसे स्थान चुने, जहां इनका पानी रोका जा सकता है ।
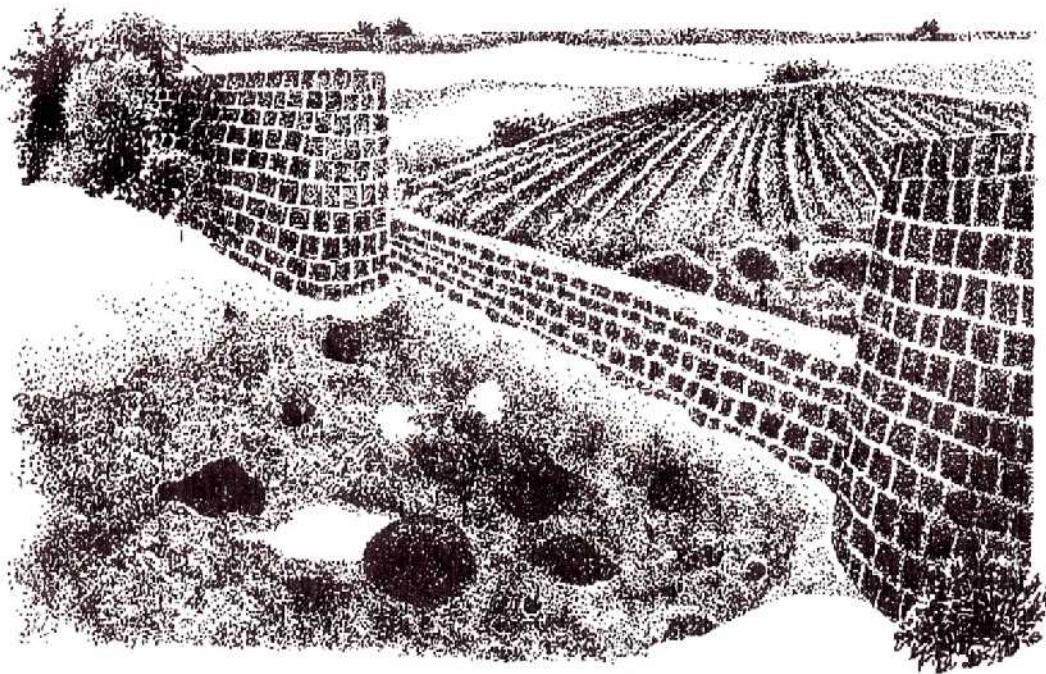
आज भी अन्न भरती हैं खडीन

ऐसे सब स्थानों पर खडीन बनाई गईं। खडीन एक तरह का अस्थाई तालाब है। दो तरफ मिट्टी की पाल उठा कर तीसरी तरफ पत्थर की मजबूत चादर लगाई जाती है। खडीन की पाल धोरा कहलाती है। धोरे की लंबाई पानी की आवक के हिसाब से कम ज्यादा होती है। कई खडीन पांच-सात किलोमीटर तक चलती हैं। वर्षा के दिनों में चलती नदी खडीन में बांध ली जाती है। पानी और बहे तो चादर से बाहर निकल कर उसी प्रवाह-पथ पर बनी दूसरी-तीसरी खडीनों को भी भरता चलता है। खडीन में आराम करती हुई यह नदी धीरे-धीरे सूखती जाती है पर इस तरह वह खडीन की भूमि को नम बनाती जाती है। इस नमी के बल पर खडीनों में गेहूं आदि की फसल बोई जाती है। मरुभूमि में जितनी वर्षा होती है उस हिसाब से यहां गेहूं की फसल लेना संभव ही नहीं था। पर यहां कई जगहों पर, विशेषकर जैसलमेर में सैकड़ों वर्षों पहले इतनी खडीन बनाई गई थीं कि इस जिले के एक क्षेत्र का पुराना नाम खडीन ही पड़ गया था।

खडीनों को बनाने का श्रेय पालीवाल ब्राह्मणों को जाता है। कभी पाली की तरफ से यहां आकर बसे पालीवालों ने जैसलमेर के राज को अनाज से भर दिया था। इस भाग में इनके चौरासी गांव बसे थे। गांव भी एक से एक सुंदर और हर तरह से व्यवस्थित।

चौपड़ की तरह दाएं-बाएं काटती चौड़ी सड़कें, सीधे कतारों में बने पत्थर के सुंदर बड़े-बड़े मकानों की बस्ती, और बस्ती के बाहर दस-पांच नाडियां, दो-चार बड़े तालाब और फिर दूर क्षितिज तक फैली खडीनों में लहराती फसलें — इन गांवों में स्वावलंबन इतना सधा था कि अकाल भी यहां के अनाज के ढेर में दब जाए।

इस स्वावलंबन ने इन गांवों को घमंडी नहीं बनाया लेकिन स्वाभिमानी इतना बनाया कि राजा के एक मंत्री से किसी प्रसंग में विवाद बढ़ने पर पूरे चौरासी गांवों का एक बड़ा सम्मेलन हुआ और निर्णय हुआ कि यह राज्य छोड़ देना है। वर्षों के श्रम से बने मकान, तालाब, खडीन, नाडी — सब कुछ ज्यों का त्यों छोड़ पालीवाल एक क्षण में अपने चौरासी गांव खाली कर गए।

कराई
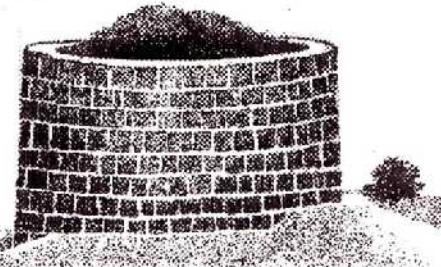
उसी दौर में बनी ज्यादातर खडीनें आज भी गेहूं दे रही हैं। अच्छी वर्षा हो जाए, यानी जैसलमेर में जितना कम पानी गिरता है, उतना गिर जाए तो खडीन एक मन का पंद्रह से बीस मन गेहूं वापस देती हैं। हर खडीन के बाहर पत्थर के बड़े-बड़े रामकोठे बने रहते हैं। इन्हें कराई कहते हैं। कराई का व्यास कोई पंद्रह हाथ होता है और उंचाई दस हाथ। उड़ावनी के बाद अनाज खलियानों में जाता है और भूसा कराई में रखा जाता है। एक कराई में सौ मन तक भूसा रखा जा सकता है। यह भूसा सूकला कहलाता है।

तालाबों की तरह खडीनों के भी नाम रखे जाते हैं और तालाबों के अंगों की तरह ही खडीनों के विभिन्न अंगों के भी नाम हैं। धोरा है पाल। धोरा और पत्थर की चादर को जोड़ने वाला मजबूत बंध पानी के वेग को तोड़ने के लिए अर्धवृत्ताकार रखा जाता है। इसे पंखा कहते हैं। दो धोरे, दो पंखे, एक चादर और अतिरिक्त पानी को बाहर निकालने का नेष्टा भी — सभी कुछ पूरी सावधानी से बनाया जाता था। बारहमासी न सही पर चौमासी यानी बरसाती नदी का वेग भी इतना होता है कि जरा-सी असावधानी पूरी खडीन को बहा ले जाए।

बहुत-सी खडीनें समाज ने बनाईं तो कुछ प्रकृति देवी ने भी। मरुभूमि में प्राकृतिक रूप से कुछ भाग ऐसे हैं जहां तीन तरफ से आड़ होने के कारण चौथी तरफ से बह कर आने वाला पानी वहीं रुक जाता है। इन्हें देवी बंध कहते हैं। यही फिर बोलचाल में दईबंध भी हुआ और किसी एक नियम के कारण इसे 'दईबंध जगह' कहने लगे।

खडीन और दईबंध जगह चौमासी चलती नदी से भरते हैं। चलती-बहती नदी यहां-वहां मुड़ती भी है। इन मोड़ों पर पानी का तेज बहाव भूमि को काटता है और वहां एक
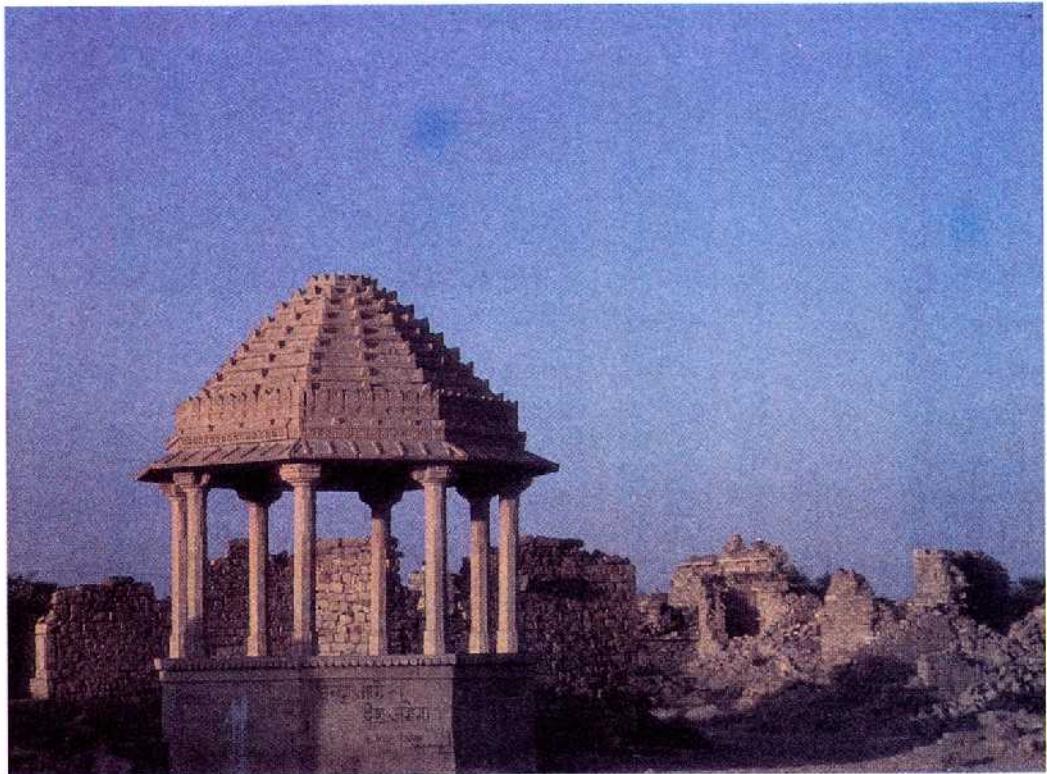
कुलधरा,
जैसलमेर

छोटा डबरा-सा बन जाता है। नदी बाद में सूख जाती है पर इस जगह कुछ समय तक पानी बना रहता है। यह जगह भे कहलाती है। भे का उपयोग बाद में रेजाणी पानी पाने के लिए किया जाता है।

खेतों में भी कुछ निचले भागों में कहीं-कहीं पानी ठहर जाता है। इन्हें डहरी, डहर या डैर कहते हैं। डहरियों की संख्या भी सैकड़ों में जाती है। इन सब जगहों पर पालर पानी रोका जाता है, फिर उसे रेजाणी में बदलने का अवसर मिलता है। इसकी मात्रा कम है या ज्यादा — ऐसा रत्ती भर नहीं सोचा जाता। रजत तोला हो या रत्ती, वह तो तुलता ही है। रजत बूंदें चार हाथ की डहरी में आने लायक हों या चार कोस की खडीन में, उनका तो संग्रह होता ही है। कुंई, पार, कुंड, टांकें, नाडी, तलाई, तालाब, सरवर, बेरे, खडीन, दईबंध जगह, डेहरी और भे इन रजत बूंदों से भरते हैं, कुछ समय के लिए सूखते भी हैं पर मरते नहीं।

ये सब आंख के तप से लिखे जल और अन्न के अमरपटो, अमर लेख हैं।

भूण थारा बारे मास

गहरे कुएं की जगत पर लगी काठ की घिर्री यानी भूण बारह महीने घूमता है, पाताल का पानी ऊपर लाता रहता है। भूण को मरुभूमि में बारह महीने काम करने का अवसर है। और इंद्र को ? इंद्र की तो बस एक घड़ी है :

भूण थारा बारे मास
इंदर थारी एक घड़ी।

यह कहावत इंद्र के सम्मान में है या कि भूण के—ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। एक अर्थ है कि इंद्र देवता एक घड़ी भर में, एक बार में ही इतना पानी बरसा जाते हैं जितना बेचारा भूण बारह महीने घूम कर दे पाता है तो दूसरा संकेत यह भी है कि मरुभूमि में देवताओं के देवता इंद्र के लिए बस एक घड़ी लिखी है पर भूण तो बारह महीने चलता है।

दो में से किसी एक को लाचार बताने के बजाए जोर तो इंद्र और भूण यानी पालर पानी और पाताल पानी के शाश्वत संबंध पर है। एक घड़ी भर बरसा पालर पानी धीरे-धीरे रिसते हुए पाताल पानी का रूप लेता है। दोनों रूप सजीव हैं और बहते हैं। धरातल पर बहने वाला पालर पानी दिखता है, पाताल पानी दिखता नहीं।

इस न दिख सकने वाले पानी को, भूजल को देख पाने के लिए एक विशिष्ट दृष्टि चाहिए। पाताल में कहीं गहरे बहने वाले जल का एक नाम सीर है और सीरवी है जो उसे 'देख' सके। पाताल पानी को सिर्फ देखने की दृष्टि ही पर्याप्त नहीं मानी गई, उसके प्रति समाज में एक विशिष्ट दृष्टिकोण भी रहा है। इस दृष्टिकोण में पाताल पानी को देखने, ढूंढने, निकालने और प्राप्त करने के साथ-साथ एक बार पाकर उसे हमेशा के लिए गंवा देने की भयंकर भूल से बचने का जतन भी शामिल रहा है।

कुएं पूरे देश में बनते रहे हैं पर राजस्थान के बहुत से हिस्सों में, विशेषकर मरुभूमि में कुएं का अर्थ है धरातल से सचमुच पाताल में उतरना। राजस्थान में जहां वर्षा ज्यादा है वहां पाताल पानी भी कम गहराई पर है और जहां वर्षा कम है वहां उसी अनुपात में उसकी गहराई बढ़ती जाती है।

मरुभूमि में यह गहराई १०० मीटर से १३० मीटर तक, ३०० फुट से ४०० फुट तक है। यहां समाज इस गहराई को अपने हाथों से, बहुत आत्मीय तरीके से नापता है। नाप का मापदंड यहां पुरुष या पुरस कहलाता है। एक पुरुष अपने दोनों हाथों को भूमि के समानांतर फैला कर खड़ा हो जाए तो उसकी एक हथेली से दूसरी हथेली तक की लंबाई पुरुष कहलाती है। यह मोटे तौर पर ५ फुट के आसपास बैठती है। अच्छे गहरे कुएं साठ पुरुष उतरते हैं। लेकिन इन्हें साठ पुरुष गहरा न कह कर प्यार में सिर्फ साठी भर कहा जाता है।

इतने गहरे कुएं एक तो देश के दूसरे भागों में खोदे नहीं जाते, उसकी जरूरत ही नहीं होती, पर खोदना चाहें तो भी वह साधारण तरीके से संभव नहीं होगा। गहरे कुएं खोदते समय उनकी मिट्टी थामना बहुत ही कठिन काम है। राजस्थान में पानी का काम करने वालों ने इस कठिन काम को सरल बना लिया, सो बात नहीं है। लेकिन उनने एक कठिन काम को सरलता के साथ करने के तरीके खोज लिए।

कीणना क्रिया है खोदने की और कीणियां हैं कुआं खोदने वाले। मिट्टी का कण-कण पहचानते हैं कीणियां। सिद्ध दृष्टि वाले सीरवी पाताल का पानी 'देखते' हैं और फिर
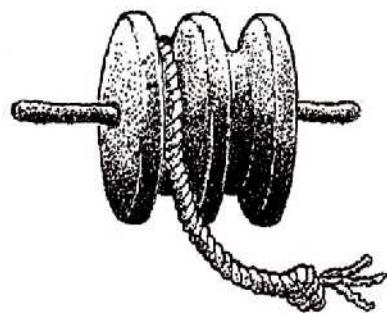
सिद्धहस्त कीणियां वहां खुदाई प्रारंभ करते हैं। कीणियां कोई अलग जात नहीं, किसी भी जाति में इस काम में निपुण लोग कीणियां बन जाते हैं। पर मेघवाल, ओड और भील परिवारों में कीणियां सहज ही निखर आते हैं।

कुएं का व्यास तय होता है भीतर बह रहे जल की मात्रा से। जल खूब मात्रा में मिलने का अनुमान है तो व्यास बड़ा होगा। तब पानी निकालने के लिए एक नहीं दो या चार चड़स भी लग सकती हैं और वे नीचे से ऊपर आते हुए आपस में टकराएंगी नहीं।

राजस्थान के उन क्षेत्रों में जहां भूजल बहुत गहरा नहीं है, वहां पूरी खुदाई हो जाने पर, स्रोत मिल जाने पर नीचे से चिनाई की जाती है। यह साधारण पत्थर और ईंट से होती है। ऐसी चिनाई सीध यानी सीधी कहलाती है। पर जहां भूजल बहुत गहरा है वहां लगातार खुदाई करते गए तो मिट्टी के धंसने का खतरा रहता है। ऐसे भागों में कुओं में ऊपर से नीचे की ओर चिनाई की जाती है — थोड़ा खोदा, उतना चिन दिया और फिर आगे बढ़े। ऐसी उलटी चिनाई ऊंध कहलाती है। लेकिन जहां पानी और भी गहरा हो वहां साधारण पत्थर की चिनाई, चाहे वह सीध हो या ऊंध, मजबूती नहीं दे सकती। ऐसे स्थानों में हरेक पत्थर को सचमुच तराशा जाता है, हरेक टुकड़ा अपने पास वाले टुकड़े में गुटकों और फांस के सहारे फंस जाता है। गुटका-फांस दाएं-बाएं भी रहती है और ऊपर-नीचे भी। इसे सूखी चिनाई कहते हैं। इस तरह तराशे गए पत्थर के टुकड़ों से चिनाई का एक-एक घेरा धीरे-धीरे पूरा होता है और फिर नीचे की खुदाई शुरू हो जाती है।
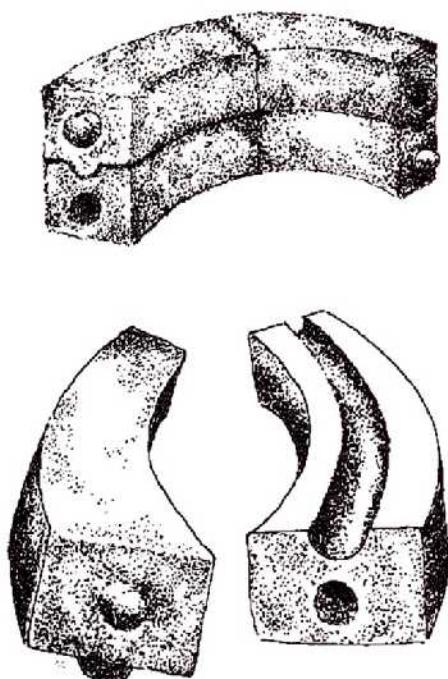
कहीं-कहीं बहुत गहराई के साथ मिट्टी का स्वभाव कुछ ऐसा रहता है कि ये तीनों तरीके — सीध, ऊंध और सूखी चिनाई से भी काम नहीं चलता। तब पूरे कुएं में थोड़ी-सी खुदाई और चिनाई गोलाकार में की जाती है। पर अच्छी गहराई आने पर पूरी खुदाई रोककर फांक-खुदाई की जाती है। वृत्त की एक चौथाई फांक खोद कर उतने हिस्से की चिनाई कर, उस चौथाई भाग को मजबूती दे दी जाती है। तब उसके सामने का दूसरा

पाव-भाग खोदते हैं। इस तरह चार हाथ खोदना हो तो उसे चार-चार हाथ के हिस्सों में खोदते हैं, चिनते हैं और नीचे पाताल पानी तक उतरते जाते हैं। बीच में कभी-कभी चट्टान आ जाए तो उसे बारूद लगा कर नहीं तोड़ा जाता। धमाके के झटके ऊपर की चिनाई को भी कमजोर बना सकते हैं। इसलिए चट्टान आने पर उसे धीरज के साथ हाथ से ही तोड़ा जाता है।

धरातल और पाताल को जोड़ना है पर सावधानी रखनी है कि धरातल पाताल में धंस न जाए — इसलिए इतनी तरह-तरह की चिनाई की जाती है। गीली चिनाई में भी साधारण गारे चूने से काम नहीं चलता। इसमें ईंट की राख, बेल का फल, गुड़, सन के बारीक कुतरे गए टुकड़े मिलाए जाते हैं। कभी-कभी घरट, यानी बैल से चलने वाली पत्थर की चक्की से पीसा गया मोटा चूना फिर हाथ की चक्की से भी पीसा जाता है ताकि इतने गहरे और वजनी काम को थामे रहने की ताकत उसमें आ जाए।

फांक खुदाई में थमता धरातल

भीतर का सारा काम थमते ही ऊपर धरातल पर काम शुरू होता है। यहां कुएं के ऊपर बस एक जगत बना कर नहीं रुक जाते। मरुभूमि में कुओं की जगत पर, उसके ऊपर और उसके आसपास जगत-भर का काम मिलता है। इसके कई कारण हैं। एक तो पानी बहुत गहराई से ऊपर उठाना है। छोटी बाल्टी से तीन सौ हाथ का पानी निकाला तो इतने परिश्रम के बाद क्या मिला ? इसलिए बड़े डोल या चड़स से पानी खींचा जाता है। इससे एक बार में आठ-दस बाल्टी पानी बाहर आता है। इतने वजन का डोल खींचने के लिए जो घिर्री, भूण लगेगा वह भी मजबूत चाहिए। उसे जिन खंबों के सहारे खड़ा करेंगे, उन्हें भी इतना वजन सहने लायक होना चाहिए। फिर इतनी मात्रा में पानी ऊपर आएगा तो उसे ठीक से खाली करने का कुंड, उस कुंड में से बह कर आए पानी का एक और बड़े कुंड में संग्रह ताकि वहां से उसे आसानी से लिया जा सके — इस सारी उठापटक
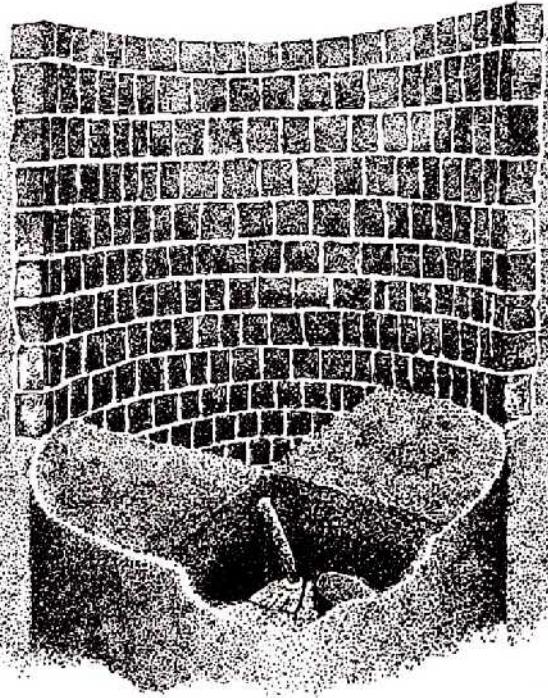
में थोड़ा बहुत जो पानी जगत पर गिर जाए, उसको भी समेट कर पशुओं के लिए सुरक्षित करने का प्रबंध — सब कुछ करते-करते इन कुओं पर इतना कुछ बन जाता कि वे कुएं न रह कर कभी-कभी तो छोटे-छोटे भवन, विद्यालय और कभी तो महल जैसे लगने लगते।

पानी पाताल से उठा कर लाना हो तो कई चीजों की सहायता चाहिए। इस विशाल प्रबंध का छोटे से छोटा अंग महत्वपूर्ण है, उसके बिना बड़े अंग भी काम नहीं देंगे—हर चीज काम की है इसलिए नाम की भी है।

सबसे पहले तो भूजल के नाम देखें। पाताल पानी तो एक नाम है ही, फिर सेवो, सेजो, सोता, वाकल पानी, वालियो, भुंईजल भी है। तलसीर और केवल सीर भी है। भूजल के अलावा सीर के दो और अर्थ हैं। एक अर्थ है मीठा और दूसरा है कमाई का नित्य साधन। एक तरह से ये दोनों अर्थ भी कुएं के जल के साथ जुड़ जाते हैं। नित्य साधन कमाई की तरह कुआं भी नित्य जल देता है पर तेवड़ यानी किफायत, मितव्ययिता या ठीक प्रबंध के बिना यह कमाई पुसाती नहीं है।

फिर इस भवकूप में, संसार रूपी कुएं में कई तरह के कुएं हैं। द्रह, दहड़ और दैड़ कच्चे, बिना बंधे कुएं के नाम हैं। ब और व के अंतर से बेरा, वेरा, बेरी, वेरी हैं। कूंडो, कूप और एक नाम पाहुर भी है। कहते हैं किसी पाहुर वंश ने एक समय इतने कुएं बनवाए थे कि उस हिस्से में बहुत लंबे समय तक कुएं का एक नाम पाहुर ही पड़ गया था। कोसीटो या कोइटो थोड़ा कम गहरा कुआं है तो कोहर नाम है ज्यादा गहरे कुएं का। बहुत से क्षेत्रों में भूजल खूब गहरा है इसलिए गहरे कुओं के नाम भी खूब हैं जैसे: पाखातल, भंवर कुआं, भमलियो, पाताल कुआं और खारी कुआं। वैरागर चौड़े कुएं का नाम है, तो चौतीना उस कुएं का जिस पर चार चड़सों द्वारा चारों दिशाओं से एक साथ पानी निकाला जाता है। चौतीना का एक नाम चौकरणो भी रहा है। फिर बावड़ी, पगबाव या झालरा हैं सीढ़ीदार ऐसे कुएं, जिनमें पानी तक सहज ही उतरा जा सकता है। और केवल पशुओं को पानी पिलाने के लिए बने कुओं का नाम पीचको या पेजको है।

गहरे कुओं में बड़े डोल या चड़स का उपयोग होता है। एक साधारण घड़े में कोई २० लीटर पानी आता है। डोल दो-तीन-घड़े बराबर पानी लाता है। चड़स, कोस या मोट सात घड़े की होती है। इसका एक नाम पुर और गांजर भी है। इन सबमें खूब मात्रा में पानी भरता है और इसलिए इस वजनी काम को करने, इसे दो-तीन सौ हाथ ऊपर खींचने, और फिर खाली करने में कई तरह के साधन और उतनी ही तरह की सावधानी की जरूरत रहती है।

चड़स खिंचती है बैलजोड़ी या एक ऊंट से। उन्हें भी इतना भार खींच कर ऊपर

आभानेर की चांद बावड़ी,

लाने में ज्यादा श्रम न लगाना पड़े, इसलिए ऐसे कुओं के साथ सारण बनती है। सारण है एक ढलवां रास्ता, जिस पर बैल चड़स को खींचते समय चलते हैं। सारण की ढाल के कारण ही उनका कठिन काम कुछ आसान बनता है। सारण का एक अर्थ काम निभाने या बनाने वाला भी है और सारण सचमुच गहरे कुएं से पानी खींचने का काम निभाती है।

कुआं जितना गहरा है उतनी ही लंबी सारण रखें तो फिर जगह बहुत चाहिए। फिर जो बैल जोड़ी सारण के एक छोर से चलेगी, वह इस लंबी सारण के दूसरे ढलवा छोर पर जाकर बहुत धीरे-धीरे ऊपर चढ़ेगी, दुबारा पानी खींचने में इस तरह काफी समय लगेगा। इसलिए सारण की कुल लंबाई कुएं की कुल गहराई से आधी रखी जाती है और बैलों की एक जोड़ी के बदले दो जोड़ियों से काम लेकर चड़स को खींचा जाता है।
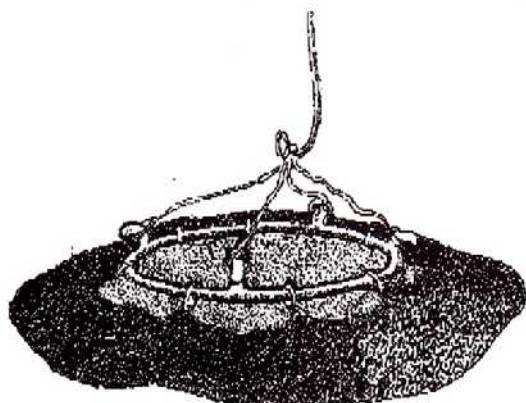
तीन सौ हाथ गहरे कुएं में चड़स के भरते ही पहली जोड़ी ढलवां सारण पर डेढ़ सौ हाथ उतर कर चड़स को कुएं में आधी दूरी तक खींच लाती है। तभी उस रस्सी को बड़ी चतुराई से क्षण भर में दूसरी जोड़ी से जोड़ दिया जाता है और उधर पहली जोड़ी को खोल कर रस्सी से अलग हटा कर चढ़ाई पर हांक कर ऊपर लाया जाता है। इधर दूसरी जोड़ी बचे डेढ़ सौ हाथ की दूरी तक चड़स खींच लाती है। चड़स भलभला कर खाली होती है — पाताल का पानी धरातल पर बहने लगता है।

एक बार की यह पूरी क्रिया बारी या वारो कहलाती है। इस काम को करने वाले बारियो कहलाते हैं। इतनी वजनी चड़स को कुएं के ऊपर खाली करने के काम में बल और बुद्धि दोनों चाहिए। जब भरी चड़स ऊपर आकर थमती है तो उसे हाथ से नहीं पकड़ सकते — ऐसा करने में बारियो भरी वजनी चड़स के साथ कुएं में भीतर खींच लिया जा सकता है। इसलिए पहले चड़स को धक्का देकर उलटी तरफ धकेला जाता है। वजन के कारण वह दुगने वेग से फिर वापस लौटती है, और जगत तक आ जाती है तब झपट कर उसे खाली कर लिया जाता है।

बारियो के इस कठिन काम का समाज में एक समय बहुत सम्मान था। गांव में बरात आती थी तो पंगत में बारियों को सबसे पहले आदर के साथ बिठाकर भोजन कराया जाता था। बारियो का एक संबोधन चड़सियो यानी चड़स खाली करने वाला भी रहा है।

बारियो का जोड़ीदार है खांभी, खांभीड़ो। खांभी सारण में बैलों को हांकता है। आधी दूरी पार करने पर खांभीड़ो चड़स की रस्सी को एक विशेष कील के सहारे पहली जोड़ी से खोल कर दूसरी जोड़ी से बांधता है। इसलिए खांभीड़ो का एक नाम कीलियो भी है।

बैलजोड़ी और चड़स को जोड़ने वाली लंबी और मजबूत रस्सी लाव कहलाती है। यह रस्सी घास, या रेशों से नहीं बल्कि चमड़े से बनती है। घास या रेशों से बनी रस्सी इतनी मजबूत नहीं हो सकती कि दो मन चड़स दिन भर ढोती रहे। फिर बार-बार पानी में डूबते-उतरते रहने के कारण वह जल्दी सड़ भी सकती है। इसलिए चड़स की रस्सी चमड़े की लंबी-लंबी पट्टियों को बट कर बनाई जाती है। उपयोग के बाद इसे किसी ऐसी जगह टांग कर रखा जाता है, जहां चूहे न कुतर सकें। ठीक संभाल कर रखी गई लाव पन्द्रह-बीस बरस तक पानी खींचती रहती है।

लाव का एक नाम बरत भी है। बरत में भैंस का चमड़ा काम आता है। मरुभूमि में गाय-बैल और ऊंट ज्यादा हैं। भैंस का तो यह क्षेत्र था नहीं। पर इस काम के लिए पंजाब से भैंस का चमड़ा यहां आता था और जोधपुर, फलोदी, बीकानेर आदि में उसके लिए अलग बाजार हुआ करता था। कहीं-कहीं चड़स के बदले कोस काम आता था। उसे बैल या ऊंट की खाल से बनाया जाता था।

कम गहरे लेकिन खूब पानी देने वाले कुएं में चड़स, या कोस के बदले सूंडिया से पानी निकाला जाता है। सूंडिया भी है तो एक तरह की चड़स ही पर यह कुएं से ऊपर आते ही अपने आप खाली हो जाती है। सूंडिया का आकार ऊपर से तो चड़स जैसा ही रहता है पर नीचे इसमें हाथी की सूंड जैसी एक नाली बनी रहती है। इसमें दो रस्सियां लगती हैं। ऊपर मुख्य वजन खींचने वाली चमड़े की रस्सी यानी बरत रहती है और फिर एक हल्की रस्सी सूंड के मुंह पर बांधी जाती है। कुएं के भीतर जाते समय सूंड का मुंह मुड़ कर बंद हो जाता है। पानी भर जाने के बाद ऊपर आते समय भी यह बंद रहता है पर जगत पर आते ही यह खुल जाता है और सूंडिया का पानी क्षण-भर में खाली हो जाता है।

सूंडिया वाले कुएं पर एक नहीं, दो चरखी लगती है। ऊपर की चरखी तो भूण है फिर भूण से चार हाथ नीचे सूंडिया की सूंड को खोलने वाली एक और घिर्री लगती है। यह गिड़गिड़ी कहलाती है। भूण को तो सारा वजन ढोना है इसलिए उसका आकार पहिए
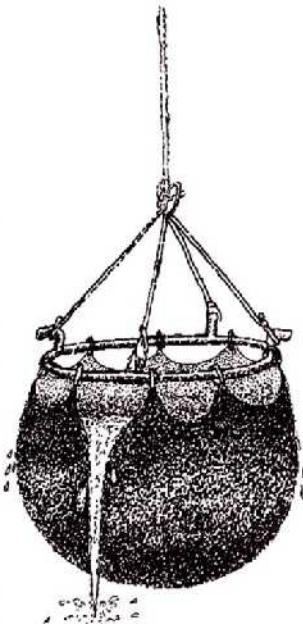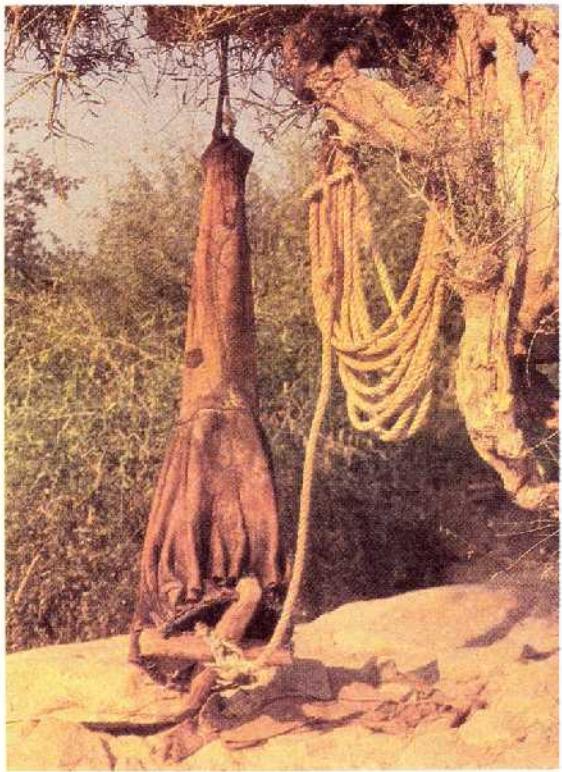
जैसा रखा जाता है पर गिड़गिड़ी को हल्का काम करना है इसलिए वह बेलन जैसे आकार की बनती है।

नाम और काम की सूची समाप्त नहीं होती है। सूंडिया का मुख्य गोल मुंह जिस लोहे के तार या बबूल की लकड़ी के घेरे में कसा जाता है वह है पंजर। पंजर और चमड़े को बांधते हैं कसण। मुंह को खुला रखने लकड़ी का जो चौखट लगता है उसे कहते हैं कलतरू। कलतरू को मुख्य रस्सी यानी बरत से जोड़ने के लिए एक और रस्सी बंधती है, उसका नाम है तोकड़। लाव के एक छोर पर यह बंधी है, तो दूसरे छोर पर खड़ी है बैलजोड़ी। जोड़ी के कंधों पर चड़स खींचने जुआनुमा जो बंधा है, उसका नाम है पिंजरो। इसी पिंजरो में दोनों बैलों की गर्दन अटकाई जाती है। पिंजरो में चार तरह की लकड़ियां ठुकती हैं और चारों के नाम अलग-अलग हैं।

सूंडिया
चड़स

ऊपर लंबाई में लगने वाली वजनी लकड़ी कोकरा है, नीचे की हल्की लकड़ी फट कहलाती है। चौड़ाई में लगने वाली पहली दो पट्टियों का नाम गाटा है तो भीतर की दो का नाम धूसर।

ये सारे नाम और काम कुछ जगहों पर, कुछ कुओं पर बिजली और डीजल के पंपों के कारण कुछ धुंधले पड़ने लगे हैं। इन नए पंपों में चड़स, कोस की तेवड़ यानी मितव्ययिता नहीं है। बहुत से साठी, चौतीनो कुएं आज बैलों के बदले 'घोड़ों' से यानी हार्स पावर से पहचाने जाने वाले पंपों से पानी उलीच रहे हैं। पिछले दौर में कई नई-पुरानी बस्तियों में नए नल लग गए हैं। पर उनमें पानी ऐसे ही पुराने साठी या चौतीनो कुओं पर लगे पंप से फेंका जाता है। नए से दिख रहे नलों में भी राजस्थान की जल परंपरा की धारा बहती है। कहीं यह धारा टूटी भी है। इसका सबसे दुखद उदाहरण जोधपुर जिले के फलोदी शहर में सेठ सांगीदासजी के साठी कुएं का है। कुआं क्या, वह तो वास्तुकला की गहराई-ऊंचाई नाप ले।
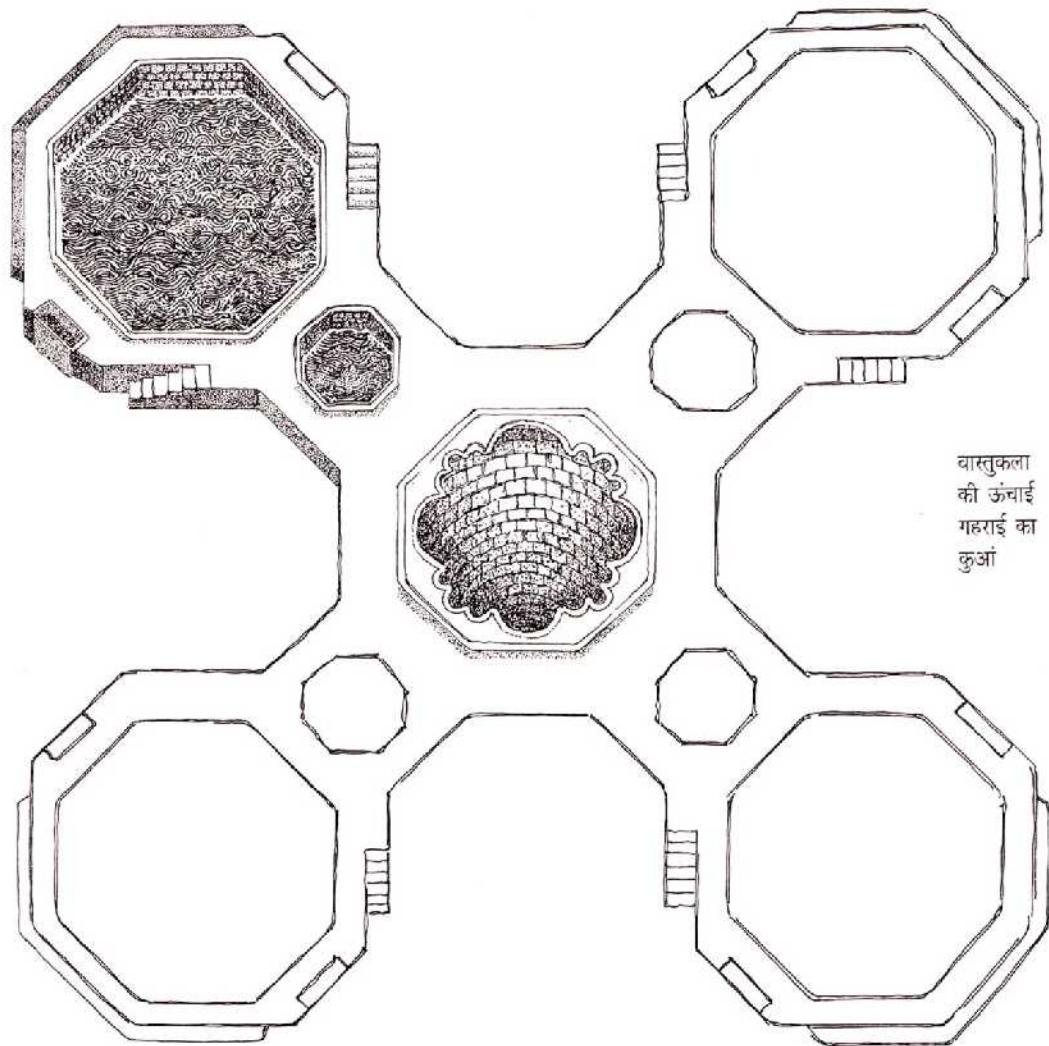
वास्तुकला की ऊंचाई गहराई का कुआं

पत्थर का सुंदर अष्टकोणी बड़ा कुआं, आठ में से चार भुजाओं का विस्तार लंबे चबूतरों के रूप में चारों दिशाओं में बाहर निकलता है। फिर हरेक चबूतरे पर चार छोटे अष्टकोणी कोठे और फिर उनसे जुड़े चार और बड़े गहरे कोठे। हरेक कोठे के साथ बाहर की तरफ हर ऊंचाई के पशुओं के लिए पानी पीने की सुविधा देने वाली सुंदर खेलियां। चारों चबूतरों के बीच से निकलती चार सारणें, जिन पर एक ही बार में चारों दिशाओं में चार बैलजोड़ियां कोस से पानी निकालने की होड़ करती थीं।

आज इसे थका दिया गया है

उन्नीसवीं सदी के इस साठी कुएं ने बीसवीं सदी भी आधी पार कर ली थी। फिर सन् १९५६ में यह सांगीदासजी के परिवार के हाथ से नगरपालिका के हाथ में आ गया। चार सारणों पर बैलजोड़ियों का दौड़ना थम गया। सुंदर कुएं के ठीक ऊपर एक बेहद भद्दा कमरा बनाया गया, बिजली लगी और कुएं में तीन सौ पांच फुट की गहराई पर पंद्रह हार्स पावर का एक पंप बिठा दिया गया। पानी अथाह था। यदि चौबीस घंटे शहर में बिजली रहे तो वह दिन-रात चलता था और हर घंटे हजार गैलन पानी ऊपर फेंकता था। फिर पंप की मोटर को पंद्रह से बढ़ा कर पच्चीस हार्स पावर में बदला गया। साफ-सफाई होना बंद हो गया, बस पानी खींचते चले गए। पानी कुछ कम होता दिखा, कुएं ने संकेत दिया कि काम तो पूरा ले रहे हो पर सार संभाल भूल गए हो। नगरपालिका ने संकेत का अर्थ कुछ और ढंग से लिया। सत्तर फुट की बोरिंग और कर दी। तीन सौ हाथ गहरे कुएं में सत्तर फुट और जुड़ गए। लेकिन सन् ९० तक आते-आते कुआं थक गया। फिर भी थके-मांदे कुएं ने और चार साल तक शहर की सेवा की। मार्च १९९४

में सेठ सांगीदासजी का कुआं जवाब दे गया ।

पानी इसमें आज भी है पर सफाई के अभाव में सोते पुर गए हैं । सफाई के लिए इतने नीचे कौन उतरे ? जिस शहर में इतना गहरा कुआं खोदने वाले कीणियां मिलते थे, उसे पत्थर से बांधने वाले गजधर मिलते थे, आज वहां नगरपालिका उसे साफ करने वालों को ढूंढ नहीं पा रही है ।

लेकिन बीकानेर शहर में १८वीं सदी में बना भव्य चौतीना कुआं आज भी न सिर्फ मीठा पानी दे रहा है, इसी 'कुएं' में नगरपालिका का दफ्तर चल रहा है, आसपास के मोहल्लों के बिजली-पानी के बिल जमा होते हैं और जल विभाग के कर्मचारियों की यूनियन का भी काम चलता है । पहले कभी चार सारणों पर आठ बैलजोड़ियां पानी खींचती थीं । अब यहां भी बिजली के बड़े-बड़े पंप लगे हैं, दिन-रात पानी उलीचते हैं, पर चौतीना की थाह नहीं ले पाते । हर समय बीस-पच्चीस साइकिलें, स्कूटर और मोटर गाड़ियां कुएं पर खड़ी मिलती हैं । इन सबको अपने विशाल हृदय में समेटता यह कुआं कहीं से भी, दूर से या बिलकुल पास से भी कुआं नहीं, किसी छोटे सुंदर रेलवे स्टेशन, बस स्टेंड या छोटे महल की तरह दिखता है ।

चौतीना कुआं, बीकानेर

और वहां एक नहीं, अनेक कुएं हैं, सिर्फ वहीं नहीं, हर कहीं ऐसे कुएं हैं, कुंई, कुंड और टांके हैं । तालाब हैं, बावड़ी, पगबाव हैं, नाडियां हैं, खडीन, देईबंध जगह हैं, भे हैं, जिनमें रजत बूंदें सहेज कर रखी जाती हैं । माटी, जल और ताप की तपस्या करने वाला यह देस बहते और ठहरे पानी को निर्मल बना कर रखता है, पालर पानी, रेजाणी पानी और पाताल पानी की एक - एक बिंदु को सिंधु समान मानता है और इंद्र की एक घड़ी को अपने लिए बारह मास में बदलता है ।

कभी क्षितिज तक लहराने वाला अखंड समुद्र हाकड़ो यहां आज भी खंड-खंड होकर उतरता है ।

चिनाई के
चिन्ह

अपने तन, मन, धन के साधन

राजस्थान में, विशेषकर मरुभूमि में समाज ने पानी के काम को एक काम की तरह नहीं, एक पुनीत कर्तव्य की तरह लिया और इसलिए आज जिसे नागरिक-अभियांत्रिकी आदि कहा जाता है, उससे कहीं ऊपर उठ कर वह एक समग्र जल-दर्शन का सुंदर रूप ले सका ।

इस जल-दर्शन को समझने की हमारी यात्रा अनायास ही प्रारंभ हुई थी सन् १९८७ में । बीकानेर के गांव भीनासर में वहां की गोचर भूमि को बचाने का आंदोलन चल रहा था । उस संकट में गांव का साथ देने के लिए हम लोग वहां पहुंचे थे ।

भीनासर गांव की गोचर भूमि के साथ एक छोटा-सा सुंदर मंदिर और बगीची है । बगीची के एक कोने में साफ-सुथरा, लिपा-पुता आंगन था । उसके चारों तरफ कोई एक हाथ उंची दीवार थी । कोने में एक टंकी-सी बनी थी । लकड़ी के एक ढक्कन से ढंकी । ढक्कन के साथ रस्सी बंधी हुई एक बाल्टी रखी थी । यह क्या है, पूछने पर बताया गया कि इसे टांका कहते हैं । यह वर्षा के पानी का संग्रह करता है । आंगन के बाहर जूते

उतरवा कर हमें भीतर ले जाया गया। ढक्कन खोल कर देखा तो पता चला कि भीतर बहुत बड़े कुंड में पानी भरा है।

राजस्थान में जल संग्रह की विशाल परंपरा का यह पहला दर्शन था। बाद की यात्राओं में जहां भी गए, वहां इस परंपरा को और अधिक समझने का सौभाग्य मिला। तब तक राजस्थान के बारे में यही पढ़ा-सुना था कि पानी का वहां घोर अकाल है, समाज बहुत कष्ट में जीता है। लेकिन जल संग्रह के ऐसे कुछ कामों को देखकर राजस्थान की एक भिन्न छवि उभरने लगी थी। जल संग्रह के इन अद्‌भुत तरीकों के कुछ चित्र भी खींचे थे।

तब तक जो कुछ भी छिटपुट जानकारी एकत्र हुई थी, उसे बहुत संकोच के साथ एकाध बार राजस्थान की कुछ सामाजिक संस्थाओं के बीच भी रखा। तब लगा कि उस क्षेत्र में काम कर रही सामाजिक संस्थाएं अपने ही समाज के इस कौशल से उतनी ही कटी हुई हैं जितने कि राजस्थान के बाहर के हम लोग। संकोच कुछ कम हुआ और फिर जब भी, जहां भी अवसर मिला, इस अधूरी-सी जानकारी को यहां-वहां पहुंचाना शुरू किया।

हर समय की गरट

इस काम का विस्तार और गहराई —दोनों को समझ पाना हमारे बूते से बाहर की बात थी। राजस्थान भर में जगह-जगह उपस्थित यह काम नई पढ़ाई-लिखाई में, पुस्तकों, पुस्तकालयों में लगभग अनुपस्थित ही रहा है। राजस्थान की आई-गई सरकारों ने, और तो और नई सामाजिक संस्थाओं तक ने भी अपने ही समाज के इस विस्तृत काम को जैसे विस्मृत ही कर दिया था। बस बची है इस काम की पहचान लोगों की स्मृति में। वे ही इस स्मृति को ठीक श्रुति की तरह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपते आ रहे हैं। इस स्मृति, श्रुति और कृति को हम बहुत ही धीरे-धीरे बूंद-बूंद ही समझ सके। कुछ अंग-प्रत्यंग तो दिखने लगे थे, मोटी-मोटी बातें समझ में आने लगी थीं, लेकिन इस काम की आत्मा का दर्शन तो हमें आठ-नौ बरस बाद जैसलमेर की यात्राओं से, वहां श्री भगवानदास माहेश्वरी, श्री दीनदयाल ओझा और श्री जेठूसिंह भाटी के सत्संग से हो सका।

पानी के प्रसंग में राजस्थान के समाज ने वर्षों की साधना से, अपने ही साधनों से जो गहराई-ऊंचाई छुई है, उसकी ठीक-ठीक जानकारी खूब वर्षा के बाद भी प्यासे रह जा रहे देश के कई भागों तक तो पहुंचनी ही चाहिए। साथ ही यह भी लगा कि दुनिया के

अन्य मरुप्रदेशों में इस काम की प्रासंगिकता है। इसी सिलसिले में एशिया और अफ्रीका के मरुप्रदेशों की थोड़ी-बहुत जानकारी एकत्र की, कुछ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष संपर्क भी किया।

आज दुनिया के कोई सौ देशों में मरुभूमि का विस्तार है। इनमें अमेरिका, रूस और आस्ट्रेलिया जैसे अमीर माने गए देश छोड़ दें। और चाहें तो इस सूची में पेट्रोल के कारण हाल ही में अमीर बन गए खाड़ी के देश और इजरायल भी अलग कर लें। तो भी एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका के कई ऐसे देश हैं जहां मरुप्रदेशों में पानी का, पीने के पानी का घोर संकट छाया है। सहसा यह विश्वास नहीं होता कि वहां के समाज ने वर्षों से वहां रहते हुए पानी का ऐसा उम्दा काम नहीं किया होगा जैसा राजस्थान में हो पाया था। वहां के जानकार लोग और संस्थाएं तो यही बताती हैं कि उन जगहों पर कोई व्यवस्थित परंपरा नहीं है। रही होगी तो गुलामी के लंबे दौर में छिन्न-भिन्न हो गई होगी।

इन देशों में मरुभूमि के विस्तार को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के पर्यावरण कार्यक्रम की एक विराट अंतर्राष्ट्रीय योजना चल रही है। इसके अलावा अमेरिका, कैनेडा, स्वीडन, नार्वे, हालैंड की दान-अनुदान देने वाली कोई आधा दर्जन संस्थाएं कुछ अरब रुपए इन देशों में पीने का पानी जुटाने में खर्च कर रही हैं। ये तमाम अरबपति संस्थाएं अपने-अपने देशों से अपने विचार, अपने यंत्र, साधन, निर्माण सामग्री, विशेषज्ञ, तकनीकी लोग और तो और प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता तक इन देशों में लगा रही हैं। पानी जुटाने के ऐसे सभी अंतर्राष्ट्रीय प्रयत्नों का एक विचित्र नमूना बन गया है बोत्सवाना देश।

मरुप्रदेशों के इस चित्र की तुलना करें
राजस्थान से, जहां समाज ने कुछ सैकड़ों
वर्षों से पानी की रजत बूंदों को
जगह-जगह समेट कर, सहेज कर रखने की
एक परंपरा बनाई है और इस परंपरा ने
कुछ लाख कुंडियां, कुछ लाख टांके,
कुछ हजार कुंईयां
और कुछ हजार छोटे-बड़े तालाब बनाए हैं।
इसके लिए उसने
किसी के आगे कभी हाथ नहीं पसारा

बोत्सवाना अफ्रीका के मरु प्रदेश में बसा एक गणराज्य है। क्षेत्रफल है ५,६१,८०० वर्ग किलोमीटर और जनसंख्या है ८,७०,०००। तुलना कीजिए राजस्थान से जिसका क्षेत्रफल एक बार फिर दुहरा लें ३,४२,००० वर्ग किलोमीटर, यानी बोत्सवाना से काफी कम, पर जनसंख्या है लगभग ४ करोड़, बोत्सवाना की जनसंख्या से पचास गुना ज्यादा। बोत्सवाना का लगभग ८० प्रतिशत भाग कालाहारी नामक रेगिस्तान में आता है।

राजस्थान की मरुभूमि के मुकाबले यहां वर्षा की स्थिति कुछ अच्छी ही कहलाएगी।

यहां का वार्षिक औसत ४५ सेंटीमीटर है। कालाहारी मरुस्थल में यह थोड़ा कम होकर भी ३० सेंटीमीटर है। एक बार फिर दुहरा लें कि थार के रेगिस्तान में यह १६ सेंटीमीटर से २५ सेंटीमीटर है। तापमान के मामले में भी कालाहारी क्षेत्र थार से बेहतर ही माना जाएगा। अधिकतम तापमान ३० डिग्री से ज्यादा नहीं जाता। थार में यह ५० डिग्री छू लेता है।

यानी बोत्सवाना में जगह ज्यादा, लोग कम, वर्षा थोड़ी-सी ज्यादा और तापमान कम — बोत्सवाना के समाज को राजस्थान के समाज से अपेक्षाकृत कुछ उदार परिस्थिति मिली। लेकिन आज पानी का यहां बड़ा संकट है। पहले कभी कोई ऊंची परंपरा रही होगी तो आज उसके चिन्ह भी नहीं मिलते। यों किन्हीं दो समाजों की तुलना करना बहुत अच्छा काम नहीं है फिर भी जो जानकारी उपलब्ध है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि बोत्सवाना में जल अधिक होते हुए भी उसके संग्रह की समयसिद्ध, स्वयंसिद्ध परंपरा नहीं दिख पाती।

बोत्सवाना की ८५ प्रतिशत आबादी, राजस्थान की तरह ही गांवों में बसती है। लेकिन यहां एक अंतर है और यह अंतर जल के अभाव के कारण है। गांव की आबादी वर्ष-भर एक घर में नहीं बल्कि तीन घरों में घूमती है। एक घर गांव में, दूसरा चरागाह में और तीसरा घर 'गोशाला' में। जुलाई से सितम्बर तक लोग गांव के घर में रहते हैं। अक्तूबर से जनवरी तक चरागाहों में और फिर फरवरी से जून तक गोशाला में।

यहां राजस्थान की तरह कुंडी, कुंइयां, टांकों आदि का चलन कम से कम आज देखने में नहीं आता। बस ज्यादातर पानी कुओं से और वर्षा के मौसम में निचले क्षेत्र में एकत्र हुए प्राकृतिक तालाबों से मिलता है।

उपलब्ध जानकारी के अनुसार पता चलता है कि यहां पहली बार सन् १९७५ से ८१ के बीच कैनेडा स्थित एक अनुदान संस्थान के सहयोग से जल संग्रह की कुंडीनुमा पद्धति का प्रयोग प्रारंभ हुआ था। इसमें सरकार के बड़े-बड़े अधिकारी, विदेशी इंजीनियर, जल विशेषज्ञ यहां के कुछ गांवों में घूमे और उन्होंने खलियानों में अनाज सुखाने के लिए बनाए जाने वाले आंगन में थोड़ा-सा ढाल देकर एक कोने में गड्ढा कर उसमें वर्षा के जल का कुछ संग्रह किया है। शत-प्रतिशत विदेशी सहयोग से, कहीं बहुत दूर से लाई गई सामग्री से ऐसी दस 'कुंडियां' बनाई गई हैं। हरेक का, हर तरह का हिसाब-किताब रखा जा रहा है, लागत-लाभ के बारीक अध्ययन हो रहे हैं। ये सभी 'कुंडियां' गोल न होकर चौकोर बनी हैं। चौकोर गड्ढे में भूमि का दबाव चारों तरफ से पड़ता है, इसलिए उसके टूटने की आशंका बनी रहती है। गोल आकार के बदले चौकोर आकार में चिनाई का क्षेत्रफल अधिक होता है– भले ही संग्रह की क्षमता उतनी ही हो। इसलिए अब ये विशेषज्ञ स्वीकार कर रहे हैं कि भविष्य में कुंडी का आकार चौकोर की बजाय गोल ही बनाना चाहिए।

इन 'प्रयोगात्मक' कुंडियों की सार-संभाल के लिए गांव वालों को, उपयोग करने वाले परिवारों को 'उन्हीं की भाषा में' प्रशिक्षित किया जा रहा है। कुंडी में पानी के साथ रेत न जाए– इसके भी प्रयोग चल रहे हैं। एक खास किस्म की छलनी लगाई जा रही है। पर विशेषज्ञों का कहना है कि इसके साथ एक ही दिक्कत है– इसे हर वर्ष बदलना पड़ेगा। इन कुंडियों के मुंह पर बिठाए गए सीमेंट के ढक्कनों में भी दरारें पड़ गई हैं। इसलिए अब इनके बदले गोल गुंबदनुमा ढक्कनों को लगाने की सिफारिश की गई है।

इसी तरह इथोपिया में दुनिया भर की कोई पांच संस्थाएं पानी के मामले में समस्याग्रस्त गांवों में छोटे कुएं खोदने में लगी हैं। इन क्षेत्रों में भूजल कोई बहुत गहरा नहीं है। ये सब कुएं बीस मीटर से ज्यादा गहरे नहीं हैं। फिर भी इन विशेषज्ञों के सामने 'सबसे बड़ी

समस्या' है ऐसे कुओं की ठीक चिनाई। मिट्टी धसक जाती है। तुलना कीजिए राजस्थान के उन साठी कुओं से जो साठ मीटर से भी ज्यादा गहरे जाते हैं और जिनकी चिनाई के सीधे, उलटे और फांक तरीके न जाने कब से काम में आते रहे हैं।

इथोपिया में इन कुओं के अलावा हैंडपंप भी खूब लगे हैं। अच्छे हैंडपंप सीधे अमेरिका, इंग्लैंड आदि से आते हैं। एक अच्छे हैंडपंप की कीमत पड़ती है कोई ३६,००० से ४०,००० रुपए तक। बताया जाता है कि ये खूब मजबूत हैं, बार-बार बिगड़ते नहीं, टूट-फूट कम

समाज के निर्माता
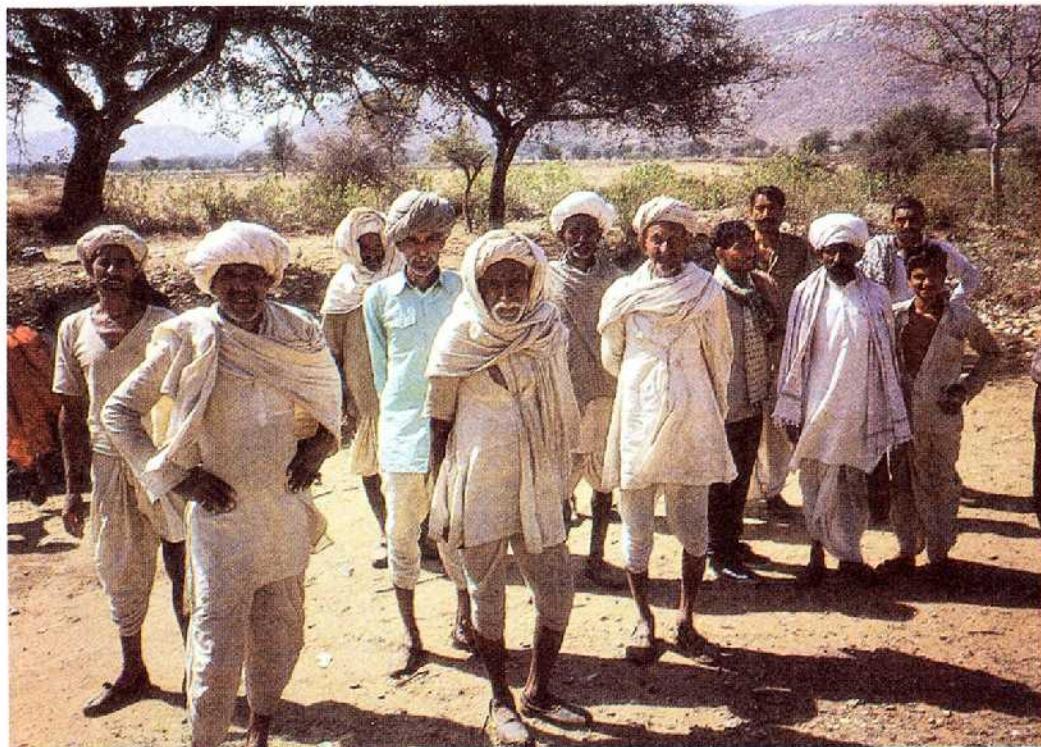
होती है। लेकिन सरकार के पास सभी गांवों में इतने महंगे पंप बिठाने के लिए उधार का पैसा भी कम पड़ता है। इसलिए कुछ सस्ते हैंडपंपों की भी तलाश जारी है। वे भी २०,००० रुपए से कम के नहीं हैं। पर उनमें खूब टूट-फूट होती है। गांव दूर-दूर हैं, आने-जाने के साधन नहीं हैं, इसलिए अब यहां सरकार गांवों में ही इनके उचित रख-रखाव के प्रशिक्षण शिविर चलाने के लिए उन्हीं देशों से अनुदान मांग रही है, जहां से ये पंप आए हैं।

तंजानिया के मरुप्रदेश में भी ऐसी ही अनेक विदेशी संस्थाओं ने 'सस्ते और साफ' पानी के प्रबंध की योजनाएं बनाई हैं। गांवों का बाकायदा सर्वे हुआ है। ऐसी जानकारी गांव से जिले, जिले से केंद्र और केंद्र से फिर यूरोप गई है। हवाई चित्र खिंचे हैं, नाजुक विदेशी मशीनों से भूजल की स्थिति आंकी गई है — तब कहीं जाकर २००० कुएं बने हैं। इन सब कुओं पर पानी की शुद्धता बनाए रखने के लिए सीधे पानी खींचने की मनाही है। इन कुओं पर हैंडपंप लगाए जा रहे हैं।

हैंडपंप से आगे जाती कुंडी

हैंडपंपों में बच्चे कंकड़-पत्थर डाल देते हैं। अब यहां भी हैंडपंपों के 'बेहतर' उपयोग के लिए ग्रामीण गोष्ठियां आयोजित हो रही हैं। टूट-फूट की शिकायतों से 'त्वरित गति' से निपटने के लिए गांव और जिले के बीच सूचनाओं के आदान-प्रदान का नया ढांचा खड़ा हो रहा है।

केन्या के रेतीले भागों में घरों की छतों पर से वर्षा के पानी को एकत्र करने के प्रयोग चल रहे हैं। पानी से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठियों में केन्या सरकार के अधिकारी इन कामों को जनता की भागीदारी के उत्तम उदाहरण की तरह प्रस्तुत करते हैं।

दुनिया के मरुप्रदेशों–बोत्सवाना, इथोपिया, तंजानिया, मलावी, केन्या, स्वाजीलैंड और सहेल के देशों को क्या अपने लिए पानी इसी तरह जुटाना पड़ेगा ? यदि पानी का सारा काम इसी तरह बाहर से आया तो क्या वह मरुभूमि के इन भीतरी गांवों में लंबे समय तक निभ पाएगा ? समाज की प्रतिभा, कौशल, अपना तन, मन, धन — सब कुछ अनुपस्थित रहा तो पानी कब तक उपस्थित बना रह पाएगा ?

मरुप्रदेशों के इस चित्र की तुलना करें राजस्थान से, जहां समाज ने सन् १९७५ से १९८१ या १९९५ के बीच में नहीं, कुछ सैकड़ों वर्षों से पानी की रजत बूंदों को जगह-जगह समेट कर, सहेज कर रखने की एक परंपरा बनाई है। और इस परंपरा ने कुछ लाख कुंडियां, कुछ लाख टांके, कुछ हजार कुंईयां और कुछ हजार छोटे-बड़े तालाब बनाए हैं — यह सारा काम समाज ने अपने तन, मन, धन से किया है। इसके लिए उसने किसी के आगे कभी हाथ नहीं पसारा।

ऐसे विवेकवान, स्वावलंबी समाज को शत-शत प्रणाम।

गोमुख,
गजनेर

संदर्भ

पधारो म्हारे देस

कभी मरुभूमि में लहराते रहे हाकड़ो के सूख जाने की घटना को राजस्थान का मन 'पलक दरियाव' की तरह लेता है। यह समय या काल के बोध की व्यापकता को याद किए बिना समझ नहीं आ सकेगा। इस काल दर्शन में मनुष्य के ३६५ दिनों का एक दिव्य दिन माना गया है। ऐसे ३०० दिव्य दिनों का एक दिव्य वर्ष। ४,८०० दिव्य वर्षों का सतयुग, ३,६०० दिव्य वर्षों का त्रेता युग, २,४०० दिव्य वर्षों का द्वापर युग और १,२०० दिव्य वर्षों का कलियुग माना गया है। इस हिसाब को हमारे वर्षों में बदलें तो १७,२८,००० वर्ष का सतयुग, १२,९६,००० का त्रेता युग, ८,६४,००० का द्वापर युग और कलियुग ४,३२,००० वर्ष का माना गया है। श्रीकृष्ण का समय द्वापर रहा है। जब वे हाकड़ो के क्षेत्र में आए हैं तब यहां मरुभूमि निकल आई थी। यानी पलक दरियाव की घटना उससे भी पहले कभी घट चुकी थी।

एक कथा इस घटना को त्रेता युग तक ले जाती है। प्रसंग है श्रीराम का लंका पर चढ़ाई करने का। बीच में है समुद्र जो रास्ता नहीं दे रहा। तीन दिन तक श्रीराम उपवास करते हैं, पूजा करते हैं। पर अनुनय-विनय के बाद भी जब रास्ता मिलता नहीं तो श्रीराम समुद्र को सुखा देने के लिए बाण चढ़ा लेते हैं। समुद्र देवता प्रकट होते हैं, क्षमा मांगते हैं। पर बाण तो डोरी पर चढ़ चुका था, अब उसका क्या किया जाए। कहते हैं समुद्र के ही सुझाव पर वह बाण उस तरफ छोड़ दिया गया जहां हाकड़ो था। इस तरह त्रेता युग में सूखा था हाकड़ो।

समुद्र के किनारे की भूमि को फारसी में शीख कहते हैं। आज की मरुभूमि का एक भाग शेखावटी है। कहा जाता है कि कभी यहां तक समुद्र था। हकीम युसूफ झुंझुनवीजी की पुस्तक झुंझुनूं का इतिहास में इसका विस्तार से विवरण है। जैसलमेर री ख्यात में भी हाकड़ो शब्द आया है। देवीसिंह मंडावा की पुस्तक शार्दूलसिंह शेखावत, श्री परमेश्वर सोलंकी की पुस्तक मरुप्रदेश का इतिवृत्तात्मक विवेचन (पहला खंड) भी यहां समुद्र की स्थिति पर काफी जानकारी देती है। फिर कुछ प्रमाण हैं इस क्षेत्र में मिलने वाले जीवाश्म के और फिर हैं लोकमन में तैरने वाले समुद्र के नाम और उससे जुड़ी कथाएं।

पुरानी डिंगल भाषा के विभिन्न पर्यायवाची कोषों में समुद्र के नाम लहरों की तरह ही उठते हैं। अध्याय में जो ग्यारह नाम दिए गए हैं, उनमें पाठक चाहें तो इन्हें और जोड़ सकते हैं :

समुद्रां कूपार अंबधि सरितांपति (अख्वं)
पारावारां परठि उदधि (फिर) जळनिधि (दख्वं)।
सिंधू सागर (नांम) जादपति जळपति (जप्पं),
रतनाकर (फिर रटहू) खीरदधि लवण (सुपप्पं)।
(जिण धांम नांम जंजाळ जे सटमिट जाय संसार रा,
तिण पर पाजां बंधियां जे तिण नांमां तार रा) ॥

ये नाम कवि हरराज द्वारा रचित डिंगल नाममाला से हैं। कवि नागराज पिंगल ने नागराज डिंगल कोष में समुद्र के नामों को इस तरह गिनाया है :

उदध अंब अणथाग आच उधारण अळियळ,
महण (मीन) महरांण कमळ हिलोहळ व्याकुल।
बेळावळ अहिलोल वार ब्रहमंड निधूवर,
अकूपार अणथाग समंद दध सागर सायर।
अतरह अमोघ चड़तव अलील बोहत अतेरुडूबवण,
(कव कवत अेह पिंगल कहै बीस नांम) सामंद (तण) ॥

कवि हमीरदान रतनू विरचित हमीर नाममाला में समुद्र नाममाला कुछ और नए नाम जोड़ती है :

मथण महण दध उदध महोदर,
रेणायर सागर महरांण ॥
रतनागर अरणव लहरीरव,
गौडीरव दरीआव गंभीर।
पारावार उधधिपत मछपति,
(अथग अंबहर अचळ अतीर) ॥
नीरोवर जळराट वारनिधि,
पतिजळ पदमालयापित।
सरसवांन सामंद,
महासर अकूपार उदभव-अम्रति ॥

कविराज मुरारिदान समुद्र के बचे खुचे अन्य नाम समेट लेते हैं :

सायर महराण स्रोतपत सागर दध रतनागर मगण दधी,
समंद पयोधर बारध सिंधू नदीईसबर बानरथी।
सर दरियाव पयोनध समदर लखमीतात जळध लवणोद,
हीलोहळ जळपती बारहर पारावार उदध पाथोद।
सरतअधीस मगरघर सरबर अरणव महाकच्छ अकुपार,

छतें भी,
आगोर भी
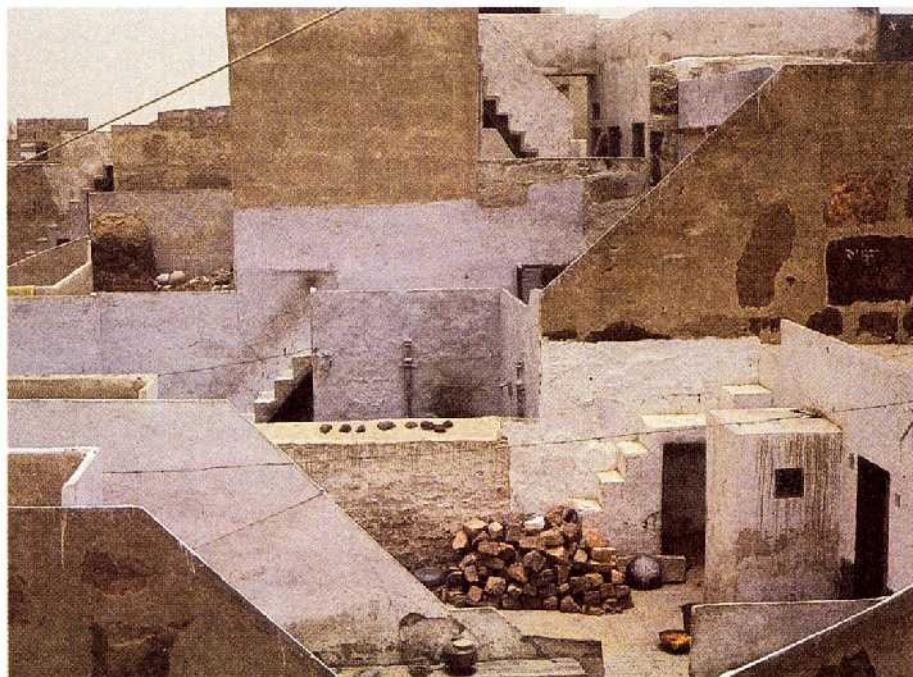
कळब्रछपता पयध मकराकर (भाखां फिर) सफरीभंडार ॥

इस तरह पानी में से निकला मरुभूमि का मन समुद्र के इतने नाम आज भी याद रखे है और साथ ही यह विश्वास भी कि कभी यहां फिर से समुद्र आ जाएगा :

हक कर बहसे हाकड़ो, बंध तुट से अरोड़
सिंघड़ी सूखो जावसी, निर्धनियो रे धनं होवसी
उजड़ा खेड़ा फिर बससी, भागियो रे भूत कमावसी
इक दिन ऐसा आवसी ।

पार पाकिस्तान के सख्खर जिले में अरोड़ नामक स्थान पर एक बांध है। एक दिन ऐसा आएगा कि वह बांध टूट जाएगा। सिंध सूख जाएगा, बसे खेड़े गांव उजड़ जाएंगे, उजड़े खेड़े फिर बस जाएंगे, धनी निर्धन और निर्धन धनी बन जाएंगे–एक दिन ऐसा आएगा ।

हाकड़ो की प्रारंभिक जानकारी और राजस्थानी में समुद्र के कुछ नाम हमें श्री बदरीप्रसाद साकरिया और श्री भूपतिराम साकरिया द्वारा संपादित राजस्थानी-हिंदी शब्द कोश, पंचशील प्रकाशन,

हाकड़ो बाद में समुद्र से, दरियाव से बस दरिया, नदी बन गया। हाकड़ो को तब इसी क्षेत्र में कभी लुप्त हो गई प्राचीन नदी सरस्वती के साथ भी रखकर देखा गया है। आज इस क्षेत्र में मीठे भूजल का अच्छा भंडार माना जाता है और इसे उन नदियों की रिसन से जोड़ा जाता है। सीमा के उस

जयपुर से मिले। इसे ढंग से समझने का अवसर मिला श्री दीनदयाल ओझा (केला पाड़ा, जैसलमेर) तथा श्री जेठूसिंह भाटी (सिलावटापाड़ा, जैसलमेर) के साथ हुई बातचीत से। ऊपर व्यक्त की गई आशा 'इक दिन ऐसा आवसी' भी श्री जेठू से मिली है। डिंगल भाषा में समुद्र के नाम राजस्थानी शोध

संस्थान, चौपासनी, जोधपुर से प्रकाशित और श्री नारायण सिंह भाटी द्वारा संपादित डिंगल कोष (१९५७) से प्राप्त हुए हैं।

राज्य की वर्षा के आंकड़े राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर से प्रकाशित श्री इरफान मेहर की पुस्तक राजस्थान का भूगोल से लिए गए हैं। राजस्थान की जिलेवार जल कुंडली इस प्रकार है :

जिला	औसत वर्षा सेंटीमीटर में
जैसलमेर	१६.४०
श्रीगंगानगर	२५.३७
बीकानेर	२६.३७
बाड़मेर	२७.७५
जोधपुर	३१.८७
चुरू	३२.५५
नागौर	३८.८६
जालौर	४२.१६
झुंझुनूं	४४.४५
सीकर	४६.६१
पाली	४९.०४
अजमेर	५२.७३
जयपुर	५४.८२
चित्तौड़गढ़	५८.२१
अलवर	६१.१६
टौंक	६१.३६
उदयपुर	६२.४५
सिरोही	६३.८४
भरतपुर	६७.१५
धौलपुर	६८.००
सवाई माधोपुर	६८.९२
भीलवाड़ा	६९.९०
डूंगरपुर	७६.१७
बूंदी	७६.४१
कोटा	८८.५६
बांसवाड़ा	९२.२४
झालावाड़	१०४.४७

नये बने जिलों के आंकड़े अभी उपलब्ध नहीं हैं।

बरस भर में केवल १६.४० सेंटीमीटर वर्षा पाने वाला जैसलमेर सैकड़ों वर्षों तक ईरान, अफगानिस्तान से लेकर रूस तक के कई भागों से होने वाले व्यापार का केंद्र बना रहा है। उस दौरान जैसलमेर का नाम दुनिया के नक्शे पर कितना चमकता था, इसकी एक झलक जैसलमेर खादी ग्रामोदय परिषद के भंडार की एक दीवार पर बने नक्शे में आज भी देखने मिल सकती है। तब बंबई, कलकत्ता, मद्रास का नाम निशान भी नहीं था कहीं।

मरुनायक श्रीकृष्ण की मरुयात्रा और वरदान का प्रसंग हमें सबसे पहले श्री नारायणलाल शर्मा की पुस्तिका में देखने मिला।

थार प्रदेश के पुराने नामों में मरुमेदनी, मरुधन्व, मरुकांतार, मरुधर, मरुमंडल और मारव जैसे नाम अमर कोष, महाभारत, प्रबंध चिंतामणी, हितोपदेश, नीति शतक, वाल्मीकि रामायण आदि संस्कृत ग्रंथों में मिलते हैं और इनका अर्थ रेगिस्तान से ज्यादा एक निर्मल प्रदेश रहा है।

माटी, जल और ताप की तपस्या

मेंढक और बादल का प्रसंग सब जगह मिलता है। पर यहां डेडरिया, मेंढक बादलों को देखकर सिर्फ डर्र-डर्र नहीं करता, वह पालर पानी को भर लेने की वही इच्छा मन में रखता है, जो इच्छा हमें पूरे राजस्थानी समाज के मन में दिखती है। और फिर यह साधारण-सा दिखने, लगने वाला मेंढक भी कितना पानी भर लेना चाहता है ? इतना कि आधी रात तक तालाब का नेष्टा, यानी अपरा चल जाए,

तालाब पूरा लबालब भर जाए।

डेडरियो की तीसरी पंक्ति गाते समय बच्चे इस पंक्ति में आए शब्द तलाई के बदले अपने मोहल्ले या गांव के तालाब का नाम लेते हैं। दूसरी पंक्ति पालर पानी भरूं-भरूं के बदले कहीं-कहीं मेंढक ठाला ठीकर भरूं-भरूं भी कहता है।

डेडरियो का यह प्रसंग हमें जैसलमेर के श्री जेठूसिंह भाटी से मिला और फिर उसमें कुछ और बारीकियां जैसलमेर के ही श्री दीनदयाल ओझा ने जोड़ी हैं : बादल उमड़ आने पर बच्चे तो डेडरियो गाते निकलते हैं और बड़े लोग गूगरिया मिट्टी के बर्तन में पकाते हैं। फिर इसे चारों दिशाओं में उछाल कर हवा, पानी को अर्घ्य अर्पित करते हैं। इस तरह वे वर्षा का 'अरूठ' मिटाते हैं, यानी वर्षा यदि किसी कारण से रूठ गई है तो इस भेंट से उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं। यह अनुष्ठान नंगे सिर किया जाता है। इस दौरान पगड़ी नहीं पहनी जाती। इस तरह लोग जल देवता को यह जताना चाहते हैं कि वे दुखी और संतप्त हैं। शोक में डूबे अपने भक्तों को प्रसन्न करने, अपनी अरूठ दूर कर वर्षा को अवतरित होना पड़ता है।

कहीं-कहीं आखा तीज, अक्षय तृतीया पर मिट्टी के चार कुल्हड़ भूमि पर रखे जाते हैं। ये चार महीनों– जेठ, आषाढ़, सावन और भादों के प्रतीक माने जाते हैं। इनमें पानी भरा जाता है। फिर उत्सुक निगाहें देखती हैं कि कौन-सा कुल्हड़ पहले गल जाता है। जेठ का कुल्हड़ गल जाए तो वर्षा स्थिर मानी जाएगी, आषाढ़ का गले तो खंडित रहेगी और सावन या भादों में से कोई पहले फूट जाए तो माना जाता है कि खूब पानी बरसेगा।

नए लोगों के लिए चार महीनों के कुल्हड़ों का यह प्रसंग टोटका होगा पर यहां पुराने लोग मौसम विभाग की भविष्यवाणी को भी टोटके से ज्यादा नहीं मानते।

वर्षा काल में बिजली के चमकने और गरजने में ध्वनि और प्रकाश की गति का ठीक स्वभाव समाज परखता रहा है : तीस कोसरी गाज, सौ कोसरी खैन यानी बिजली कड़कने की आवाज तीस कोस तक जाती है पर उसके चमकने का प्रकाश तो सौ कोस तक फैल जाता है। ध्वनि और प्रकाश का यह बारीक अंतर हमें श्री जेठूसिंह से मिला है।

राज्य के विस्तार, क्षेत्रफल आदि के आंकड़ों में श्री इरफान मेहर की पुस्तक राजस्थान के भूगोल से सहायता ली गई है और फिर उसमें इस बीच बने नए जिले और जोड़े गए हैं। राजस्थान के भूगोल का आधुनिक वर्गीकरण और मानसून की हवा की विस्तृत जानकारी भी इसी पुस्तक से ली गई है।

खारी जमीन का पहला परिचय हमें सांभर क्षेत्र की यात्रा से मिला। यहां तक हम तिलोनिया, अजमेर स्थित सोशल वर्क एंड रिसर्च सेंटर के साथी श्री लक्ष्मीनारायण, श्री लक्ष्मणसिंह और श्रीमती रतनदेवी के सौजन्य से पहुंच सके थे। बीकानेर का लूणकरणसर क्षेत्र तो नाम से ही लवणयुक्त है। इस क्षेत्र को समझने में हमें वहां काम कर रहे उरमूल ट्रस्ट से मदद मिली।

इस अध्याय में ताप से संबंधित अंश पीथ, जलकूंडो, माछलो और भडली पुराण की प्रारंभिक

सूचनाएं श्री बदरीप्रसाद साकरिया और श्री भूपतिराम साकरिया के राजस्थानी शब्दकोश से मिली हैं। वर्षा-सूचकों में चंद्रमा की ऊभो या सूतो स्थिति हमें श्री दीनदयाल ओझा और श्री जेठूसिंह ने समझाई। डंक-भडली पुराण में वर्षा से संबंधित कुछ अन्य कहावतें इस प्रकार हैं :

मंगसर तणी जे अष्टमी, बादली बीज होय। सांवण बरसै भडली, साख सवाई जोय ॥

यदि मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमी को बादल और बिजली दोनों हों तो श्रावण में वर्षा होगी और फसल सवाई होगी।

मिंगसर बद वा सुद मंही, आधै पोह उरे। धंवरा धुंध मचाय दे, (तौ) समियौ होय सिरे ॥

यदि मार्गशीर्ष के पहले या दूसरे पक्ष में अथवा पौष के प्रथम पक्ष में, प्रातःकाल के समय धुंध (कोहरा) हो तो जमाना अच्छा होगा।

हे भड्ड, मण हूंता अन चंद ॥

यदि पौष में घने बादल दिखाई दें और चैत्र के शुक्ल पक्ष में चंद्रमा स्वच्छ दिखाई पड़े यानी कोई बादल दिखाई न दें तो डंक भडली से कहता है कि अनाज मन से भी सस्ता होगा।

फागण वदी सु दूज दिन, बादल होए न बीज। बरसै सांवण भादवौ, साजन खेलौ तीज ॥

यदि फाल्गुन कृष्ण द्वितीया के दिन बादल या बिजली नहीं हो तो श्रावण व भादों में अच्छी वर्षा होगी, अतः हे पति, तीज अच्छी तरह मनाएंगे।

बादल जहां सबसे कम आते हैं, वहां बादलों के सबसे ज्यादा नाम हैं। इस लंबी सूची की – कोई चालीस नामों की पहली छंटाई हम राजस्थानी-हिन्दी शब्द कोश की सहायता से कर सके हैं। इनमें विभिन्न डिंगल कोशों से कई नाम और जोड़े जा सकते हैं। कवि नागराज का डिंगल कोश मेघ के

कमल के पत्तों पर बुनियाद

पोष अंधारी दसमी, चमकै बादल बीज। तौ भर बरसै भादवौ, सायधण खेलै तीज ॥

यदि पौष कृष्ण दसमी को बादलों में बिजली चमके तो पूरे भादों में वर्षा होगी और स्त्रियां तीज का त्यौहार अच्छी तरह मनाएंगी।

पोह सबिभल पेखजै, चैत निरमल चंद। डंक कहै

नाम इस प्रकार गिनाता है :

पावस प्रथवीपाळ बसु हब्र बैकुंठवासी,
महीरंजण अंब मेघ इलम गाजिते-आकासी।
नैणे-सघण नभराट ध्रवण पिंगळ धाराधर,
जगजीवण जीभूत जलद्‌ जळमंडल जळहर।
जळवहण अभ्र वरसण सुजळ महत कळायण (सुहामणा),

परजन्य मुदिर पाळग भरण (तीस नाम) नीरद (तणा) ॥

श्री हमीरदान रतनू विरचित हमीर नांम-माला में बादलों के नामों की घटा इस प्रकार छा जाती है :

पावस मुदर बळाहक पाळग,
धाराधर (वळि) जळधरण ।
मेघ जळद जळवह जळमंडळ,
घण जगजीवन घणाघण ॥
तड़ितवांन तोईद तनयतूं,
नीरद बरसण भरण-निवांण ।
अभ्र परजन नभराट आकासी,
कांमुक जळमुक महत किलांण ॥
(कोटि सघण, सोभा तन कांन्हड़,
स्यांम त्रेभुअण स्याम सरीर ।
लोक मांहि जम जोर न लागै,
हाथि जोड़ि हरि समर हमीर) ॥

श्री उदयराम बारहठ विरचित अवधान-माला में बचे हुए नाम इस तरह समेटे गए हैं :

धाराधर घण जळधरण मेघ जळद जळमंड,
नीरद बरसण भरणनद पावस घटा (प्रचंड) ।
तड़ितवांन तोयद तरज निरझर भरणनिवांण,
मुदर बळाहक पाळमहि जळद (घणा) घण (जांण) ।
जगजीवन अभ्रय रजन (हू) काम कहमत किलांण,
तनयतू नभराट (तब) जळमुक गयणी (जा'ण) ॥

डिंगल कोष की एक अन्य सूची, जिसके कवि अज्ञात ही हैं, बादल के कुछ ज्ञात-अज्ञात नाम और जोड़ती है :

मेघ जळद नीरदं जळमंडण,
घण बरसण नभराट घणाघण ।
महत किलांण अकासी जळभुक,
मुदर बळाहक पाळग कांमुक ।
धाराधर पावस अभ्र जळधर,
परजन ! तड़ितवांन तोयद (पर) सघण तनय (तू)
स्यामघटा (सजि),
गंजणरोर निवांणभर गजि ।

काली घटाओं की तरह उमड़ती यह सूची कविराजा मुरारिदान द्वारा रचित डिंगल कोष के इस अंश पर रोकी भी जा सकती है :

मेघ घनाधन घण मुदिर जीमूत (र) जळवाह,
अभ्र बळाहक जळद (अख) नभधुज धूमज (नाह) ॥

डिंगल कोष के ये संदर्भ हमें श्री नारायण सिंह भाटी द्वारा संपादित और राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर द्वारा सन् १९५७ में प्रकाशित डिंगल-कोष से मिले हैं ।

बादलों के स्वभाव, रंग रूप, उनका इस से उस दिशा में दौड़ना, किसी पहाड़ पर थोड़ा टिक कर आराम करना आदि की प्रारंभिक सूचनाएं राजस्थानी
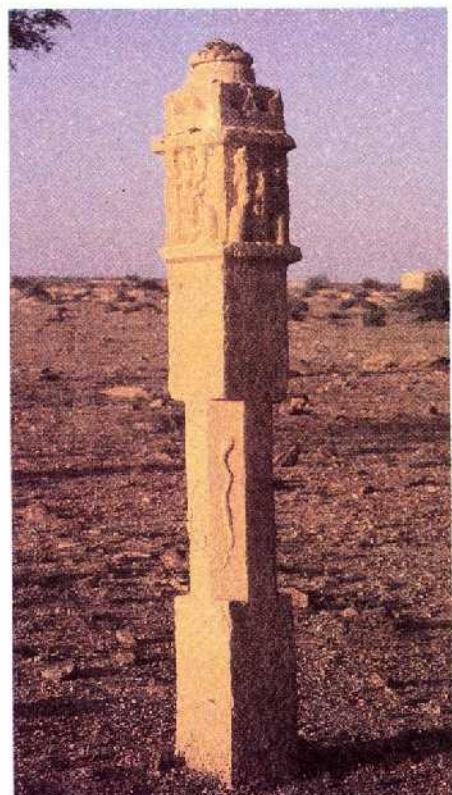
हिन्दी शब्द कोश से ली गई हैं।

इस जमाने में जमानो शब्द का ठीक भाव हम श्री ओम थानवी, संपादक जनसत्ता, १८६ बी, इंडस्ट्रियल एरिया, चंडीगढ़ से समझ सके। श्री थानवी ने सन् ८७ में सेंटर फार साइंस एंड एनवायर्नमेंट, नई दिल्ली की ओर से मिली एक शोधवृत्ति पर संभवतः पहली बार राजस्थान के जल-संग्रह पर एक विस्तृत आलेख लिखा था और इस परंपरा की भव्य झलक देने वाले उम्दा छाया चित्र खींचे थे। फिर जमानो पर विस्तृत जानकारी हमें श्री जेठूसिंह से मिली। उन्हीं ने जेठ का महत्व, जेठ की प्रशंसा में ग्वालों के गीत और महीनों की आपसी बातचीत में जेठ की श्रेष्ठता से जुड़ी जानकारियां दीं।

पानी बरसने की क्रिया तूठणो से लेकर उबरेलो, यानी वर्षा के सिमटने की पूरी प्रक्रिया को हम राजस्थानी-हिन्दी शब्द कोश की सहायता से समझ पाए हैं।

राजस्थान की रजत बूंदें

सचमुच 'नेति-नेति' जैसी कुंई को कुछ हद तक ही समझ पाने में हमें सात-आठ बरस लग गए – इसे स्वीकार करने में हमें जरा भी संकोच नहीं हो रहा है। पहली बार कुंई देखी थी सन् १९८८ में चुरू जिले के तारानगर क्षेत्र में। लेकिन यह कैसे काम करती है, खारे पानी के बीच भी खड़ी रह कर यह कैसे मीठा पानी देती रहती है – इसकी प्रारंभिक जानकारी हमें बीकानेर प्रौढ़ शिक्षण समिति की एक गोष्ठी में भाग लेने आए ग्रामीण प्रतिनिधियों से हुई बातचीत से मिली थी। बाड़मेर में बनने वाली पार का परिचय वहां के नेहरू युवा केंद्र के समन्वयक श्री भुवनेश जैन से मिला।

कभी स्वयं गजधर रहे श्री किशन वर्मा ने चेजारो और चेलवांजी के काम की बारीकियां और कठिनाइयां समझाईं। कुंई खोदते समय खींप की रस्सी से उसे बांधते चलने, और भीतर हवा की कमी को दूर करने ऊपर से एक-एक मुट्ठी रेत जोर से फेंकने का आश्चर्यजनक तरीका भी उन्होंने बताया। श्री वर्मा का पता है : १, गोल्डन पार्क, रामपुरा, दिल्ली ३५।

कुंई और रेजाणी पानी का शाश्वत संबंध हमें जैसलमेर के श्री जेठूसिंह भाटी से हुए पत्र व्यवहार से और फिर जैसलमेर में उनके साथ हुई बातचीत से समझ में आया। रेजाणी पानी ठीक से टिकता है बिट्टू रो बल्लियो के कारण। बिट्टू मुल्तानी मिट्टी या मेट, छोटे कंकड़, यानी मुरडियो से मिलकर बनी पट्टी है। इसमें पानी नमी की तरह देर तक, कहीं-कहीं एक-दो वर्ष तक बना रहता है। खड़िया पट्टी भी काम तो यही करती है पर इसमें पानी उतनी देर तक नहीं टिक पाता। बिट्टू से ठीक उलटी है धीये रो बल्लियो। इससे पानी रुकता नहीं और इसलिए ऐसे क्षेत्रों से रेजाणी पानी नहीं लिया जा सकता और इसलिए इनमें कुंइयां भी नहीं बन सकतीं।

सांपणी और लट्ठों से पार की बंधाई की जानकारी भी उन्हीं से मिली है। जैसलमेर से २५ किलोमीटर दूर खड़ेरों की ढाणी गांव में पालीवालों की छह बीसी (एक सौ बीस) पारों को हम श्री जेठूसिंह और उसी गांव के श्री चैनारामजी के साथ की गई यात्रा में समझ पाए। आज इनमें से ज्यादातर पार रेत में दब गई हैं। ऐसा ही एक और गांव है छंतारगढ़। इसमें पालीवालों के समय की ३०० से ज्यादा कुंइयों के अवशेष मिलते हैं। कई पारों में आज भी पानी आता है।

खड़ेरों की ढाणी जैसे कई गांवों को आज एक नए बने ट्यूबवैल से पानी मिल रहा है। पानी ६० किलोमीटर दूर से पाइप लाइन के माध्यम से आता

कुमुदनी से ढंका स्वच्छ जल

है। ट्यूबवैल जहां खोदा गया है, वहां बिजली नहीं है। वह डीजल से चलता है। डीजल और भी कहीं दूर से टैंकर के जरिए आता है। कभी टैंकर के ड्राइवर छुट्टी पर चले जाते हैं, तो कभी ट्यूबवैल चलाने वाले। कभी डीजल ही उपलब्ध नहीं होता। उपलब्ध होने पर उसकी चोरी भी हो जाती है। कभी रास्ते में पाइप लाइन फट जाती है – इस तरह के अनेक कारणों से ऐसे गांवों में पानी पहुंचता ही नहीं है। नई बनी पानी की टंकियां खाली पड़ी रहती हैं और गांव इन्हीं पारों से पानी लेता है।

राजस्थान की संस्थाओं, अखबारों को पानी देने की ऐसी नई सरकारी व्यवस्था से जोड़े गए, जोड़े जा रहे गांवों की नियमित जानकारी रखनी चाहिए। नए माध्यम से पानी आ रहा है, कितना आ रहा है, इसकी हाजरी लगनी चाहिए। तभी समझ में आ सकेगा कि आधुनिक मानी गई पद्धतियां मरुभूमि में कितनी पिछड़ी साबित हो रही हैं।

इंदिरा गांधी नहर से जोड़े गए उन गांवों की भी ऐसी ही हालत हो चली है, जहां पहले पानी कुंइयों से लिया जाता था। चुरू जिले के बूचावास गांव में कोई पचास से ज्यादा कुंइयां थीं। सारा गांव शाम को एक साथ इन पर पानी लेने जमा होता था। मेला सा लगता था। अब नया पानी कहीं दूर से पाईप लाइन के जरिए सीमेंट की एक बड़ी गोल टंकी में आता है। टंकी के चारों तरफ नल लगे हैं। इस नए पनघट पर मेला नहीं भीड़ जुटती है। झगड़ा होता है। घड़े फूटते हैं। टंकी में पानी रोज नहीं आता, कभी-कभी तो हफ्ते दो हफ्ते में एकाध बार पानी आता है। इसलिए पानी लेने के लिए छीनाझपटी होती है। गांव के मास्टरजी का कहना है कि शायद प्रतिदिन का औसत निकालें तो हमें नया पानी उतना ही मिल रहा है जितना बिना झगड़े

कुंइयों से मिल जाता था। इस बीच उखड़-उजड़ चुकी कई कुंइयां फिर से ठीक की जा रही हैं।

कुंइयां सचमुच स्वयंसिद्ध और समयसिद्ध साबित हो रही हैं।

ठहरा पानी निर्मला

बहते पानी को ठहरा कर वर्ष भर निर्मल बनाए रखने वाली कुंडी की पहली झलक हमें सन् ८८ में सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायर्नमेंट के श्री अनिल अग्रवाल और सुश्री सुनीता नारायण के साथ दिल्ली से बीकानेर जाते समय दिखी थी। फिर कुंई की तरह इसे भी समझने में हमें काफी समय लगा है।

कुंडी शब्द कुंड से और कुंड यज्ञ कुंड से बना माना जाता है। जैसलमेर जिले में बहुत पुराना बैसाखी कुंड भी है, जहां आसपास के बहुत बड़े क्षेत्र से लोग अस्थियां विसर्जन के लिए आते हैं। कहा जाता है कि बैसाखी पूर्णिमा को यहां स्वयं गंगाजी आती हैं। ऐसी कथाएं कुंड के जल की निर्मलता, पवित्रता बताती हैं।

कुंड बनाने की प्रथा कितनी पुरानी है, ठीक ठीक कहा नहीं जा सकता। बीकानेर-जैसलमेर क्षेत्र में दो सौ-तीन सौ बरस पुराने कुंड, टांके भी मिलते हैं। नई तकनीक हैंडपंप को भी टिकाने वाले कुंड चुरू क्षेत्र में खूब हैं। कुंडियों का समयसिद्ध और स्वयंसिद्ध स्वभाव हमें जनसत्ता, दिल्ली के श्री सुधीर जैन ने समझाया।

फोग की टहनियों से बनी कुंडियां बीकानेर जिले की सीमा पर पाकिस्तान से सटे जालवाली गांव में हमें श्री ओम थानवी और राजस्थान गो सेवा संघ के श्री भंवरलाल कोठारीजी के कारण देखने मिलीं। इन कुंडियों पर सफेद रंग पोतने का रहस्य श्री ओम थानवी ने समझाया।

खड़िया से बनी कुंडियां बीकानेर-जैसलमेर मार्ग पर बीच-बीच में बिखरी हैं। बज्जू क्षेत्र में भी हमें ऐसी कुंडियां उरमूल ट्रस्ट के श्री अरविंद ओझा के साथ की गई यात्रा में देखने मिलीं। कलात्मक चबूतरों की तरह बनी कुंडियां हम जैसलमेर के रामगढ़ क्षेत्र में राजस्थान गो सेवा संघ के श्री जगदीशजी के साथ की गई यात्रा में देख पाए। जैसलमेर में कुछ ही पहले बसे और बने एक पूरे नए गांव 'कबीर बस्ती' में हर घर के आगे ऐसी ही कुंडियां बनाई गई हैं। इसकी सूचना हमें जैसलमेर खादी ग्रामोदय परिषद के श्री राजू प्रजापत से मिली। छतों और आंगन के आगौर से जोड़ कर दुगना पानी एकत्र करने वाला टांका जोधपुर के फलोदी शहर में श्री ओम थानवी के सौजन्य से देखने मिला। चुर्रो के पानी को बड़ी किफायत के साथ लेने वाले टांकों की जानकारी दी है श्री जेठूसिंह भाटी ने। श्री संतोषपुरी नामक साधु ने ऐसे टांके
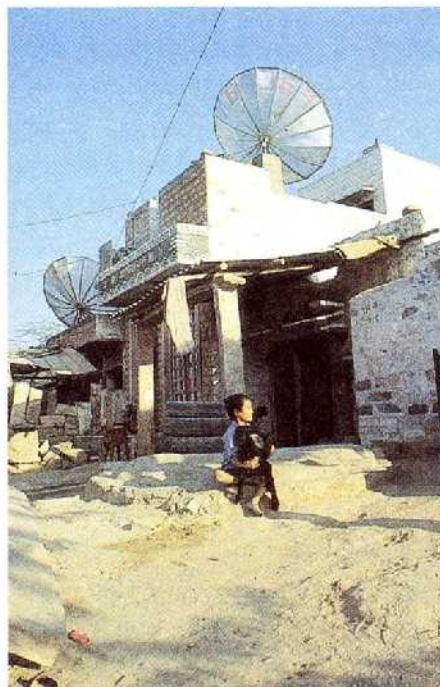
एक ही स्रोत से चलते कुंडी और टीवी

अभी कुछ ही पहले बनाए हैं, जैसलमेर के नरसिहों की ढाणी के पास। संन्यास लेने से पहले ये चरवाहे थे। इस क्षेत्र में बरसने वाले पानी को बहते देखते थे। साधु बनने के बाद उन्हें लगा कि इस पानी का उपयोग होना चाहिए। उनका बचा काम अब उनके शिष्य यहां पूरा कर रहे हैं। संसार छोड़ चुके संन्यासी पानी के काम को कितने आध्यात्मिक ढंग से अपनाते हैं—इसकी विस्तृत जानकारी श्री जेठूसिंह से मिल सकती है।

जयगढ़ किले में बने विशाल टांके की पहली जानकारी हमें जयपुर शहर के संग्रहालय में लगे एक विज्ञापन से मिली थी। उसमें इसे विश्व का सबसे बड़ा टांका कहा गया था। बाद में यहां हम चाकसू की संस्था एग्रो एक्शन के श्री शरद जोशी के साथ गए और प्रारंभिक जानकारी भी उन्हीं से मिली। इस सबसे बड़े टांके की संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है :

टांके का आगौर जयगढ़ की पहाड़ियों पर ४ किलोमीटर तक फैला है। बड़ी छोटी अनेक नहरों का जाल पहाड़ियों पर बरसने वाले पानी को समेट कर किले की दीवार तक लाता है। नहरों की ढलान भी कुछ इस ढंग से बनी है कि इनमें पानी बहने के बदले धीरे-धीरे आगे 'चढ़ता' है। इस तरह पानी के साथ आने वाली साद पीछे छूटती जाती है। नहरों के रास्ते में भी कई छोटे-छोटे कुंड बने हैं। इनमें भी पानी साद छोड़ कर, साफ होकर आगे मुख्य टांके की ओर बहता है।

जयगढ़ टांके का गवाक्ष

आपातकाल के दौरान यानी सन् १९७५-७६ में सरकार ने इन्हीं टांकों में जयपुर घराने के 'छिपे' खजाने को खोजने के लिए भारी खुदाई की थी। यह कुछ महीनों तक चली थी। तीनों टांकों के आसपास खुदाई हुई। टांकों का सारा पानी बड़े-बड़े पंपों की सहायता से उलीचा गया।

आयकर विभाग के इन छापों में खजाना मिला या नहीं, पता नहीं पर वर्षा जल के संग्रह का यह अद्‌भुत खजाना चारों तरफ की गहरी खुदाई से कुछ लुट ही गया था। फिर भी यह उसकी मजबूती ही मानी जाएगी कि कोई चार सौ बरस पहले बने ये टांके इस विचित्र अभियान को भी सह सके हैं और आज भी अपना काम बखूबी कर रहे हैं।

इन टांकों, छापों और खुदाई की विस्तृत जानकारी श्री आर. एस. खंगारोत और श्री पी. एस.
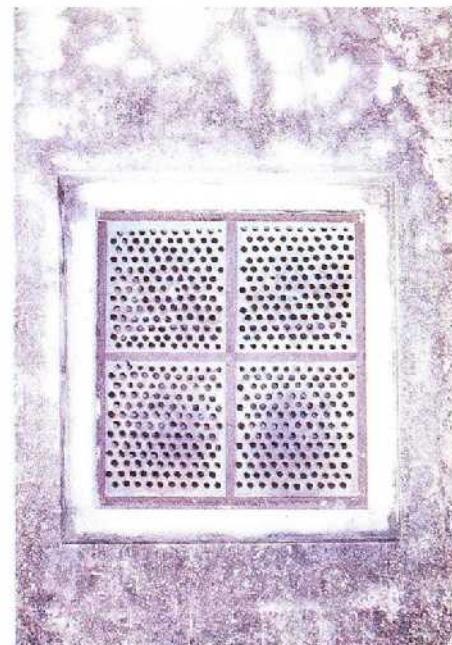
नाथावत द्वारा लिखी गई अंग्रेजी पुस्तक 'जयगढ़, द इनविंसिबल फोर्ट ऑफ आमेर' से मिल सकती है। प्रकाशक हैं : आर. बी. एस. ए. पब्लिशर्स, एस. एम. एस. हाईवे जयपुर।

राजस्थान में चारों तरफ रजत बूंदों की तरह छिटकी हुई इन कुंडियों, टांकों, कुंइयों, पार और तालाबों ने समाज की जो सेवा की है, पीने का जो पानी जुटाया है, उसकी कीमत का हम आज अंदाज

भी नहीं लगा सकते। किसी केंद्रीय ढांचे से इस काम को पूरा करना एक तो संभव नहीं और यदि कुछ थोड़ा-बहुत हो भी जाए तो उसकी कीमत कुछ करोड़ों रुपए की होगी। राजस्थान सरकार के जन स्वास्थ्य अभियांत्रिक विभाग की ओर से समय-समय पर यहां-वहां कुछ पेयजल योजनाओं को बनाने के लिए निविदा सूचनाएं अखबारों में निकलती रहती हैं। फरवरी ९४ में दिल्ली के जनसत्ता दैनिक में प्रकाशित एक ऐसी ही निविदा सूचना में बाड़मेर जिले की शिव, पचपदरा, चौहटन, बाड़मेर और शिवाना तहसील के कुल दो सौ पचास गांवों में जलप्रदाय योजना बनाने की अनुमानित लागत ४० करोड़ बताई गई है। इसी निविदा में बीकानेर जिले की बारह तहसीलों के छह सौ गांवों में होने वाले काम की लागत ९६ करोड़ रुपए आने वाली है।

इसी के साथ फरवरी ९४ में राजस्थान के अखबारों में छपी निविदा सूचना भी ध्यान देने लायक है। इसमें जोधपुर जिले के फलोदी क्षेत्र में इसी विभाग की ओर से २५ हजार लीटर से ४५ हजार लीटर तक की क्षमता के 'भूतल जलाशय' यानी कहीं और से लाए गए पानी को जमा करने वाले टांकों के निर्माण की योजना है। इन सबकी अनुमानित लागत ४३ हजार रुपए से ८६ हजार रुपए बैठ रही है। इनमें एक लीटर पानी जमा रखने का खर्च लगभग दो रुपए आएगा। पर पानी कहीं और से लाना होगा। उसका खर्च अलग। यह काम फलोदी के केवल तेरह गांवों में होगा। कुल खर्च है लगभग नौ लाख रुपए।

अब कल्पना कीजिए राजस्थान के समाज के उस 'विभाग' की, जो एक साथ बिना विज्ञापन, निविदा सूचना और ठेकेदारी के अपने ही बलबूते पर कोई ३० हजार गांवों में निर्मल पानी जुटा सकता था।

बिंदु में सिंधु समान

साईं इतना दीजिए के बदले साईं 'जितना' दीजिए वामे कुटुम समा कर दिखाने वाले इस समाज की बहुत-सी जानकारी हमें पिछली पुस्तक 'आज भी खरे हैं तालाब' को तैयार करते समय मिली थी। इस अध्याय का अधिकांश भाग उस पुस्तक के 'मृगतृष्णा झुठलाते तालाब' पर आधारित है। तालाब कैसे बनते हैं, कौन लोग इन्हें बनाते हैं, तालाबों के आकार-प्रकार और उनके तरह-तरह के नाम, वे परंपराएं जो तालाब को सहेज कर वर्षों तक रखना जानती थीं– आदि अनेक बातें गांधी शांति प्रतिष्ठान से छपी उस पुस्तक में आ चुकी हैं। इस विषय में रुचि रखने वाले पाठकों को उसे भी पलट कर देख लेना चाहिए।

तालाब के बड़े कुटुंब की सबसे छोटी और प्यारी सदस्या नाडी की प्रारंभिक जानकारी हमें मरुभूमि विज्ञान विद्यालय के निदेशक श्री सुरेन्द्रमल मोहनोत से मिली थी। उन्होंने जोधपुर शहर में जल संग्रह की उन्नत परंपरा पर काम किया है। उनके इस अध्ययन से पता चलता है कि शहरों में भी नाडियां बनती रही हैं। जोधपुर में अभी भी कुछ नाडियां बाकी हैं। इनमें प्रमुख हैं : जोधा की नाडी, सन् १५२० में बनी गोल नाडी, गणेश नाडी, श्यामगढ़ नाडी, नरसिंह नाडी और भूतनाथ नाडी।

सांभर झील के आगौर में चारों तरफ खारी जमीन के बीच मीठे पानी की तलाई हम प्रयत्न नामक संस्था के श्री लक्ष्मीनारायण और सोशल वर्क एंड रिसर्च सेंटर की श्रीमती रतनदेवी तथा श्री लक्ष्मणसिंह के साथ की गई यात्रा में देख समझ सके। इनके पते हैं : प्रयत्न, ग्राम शोलावता, पो. श्रीरामपुरा, बरास्ता नरैना, जयपुर तथा सोशल वर्क एंड रिसर्च सैंटर, तिलोनिया, बरास्ता मदनगंज, अजमेर।
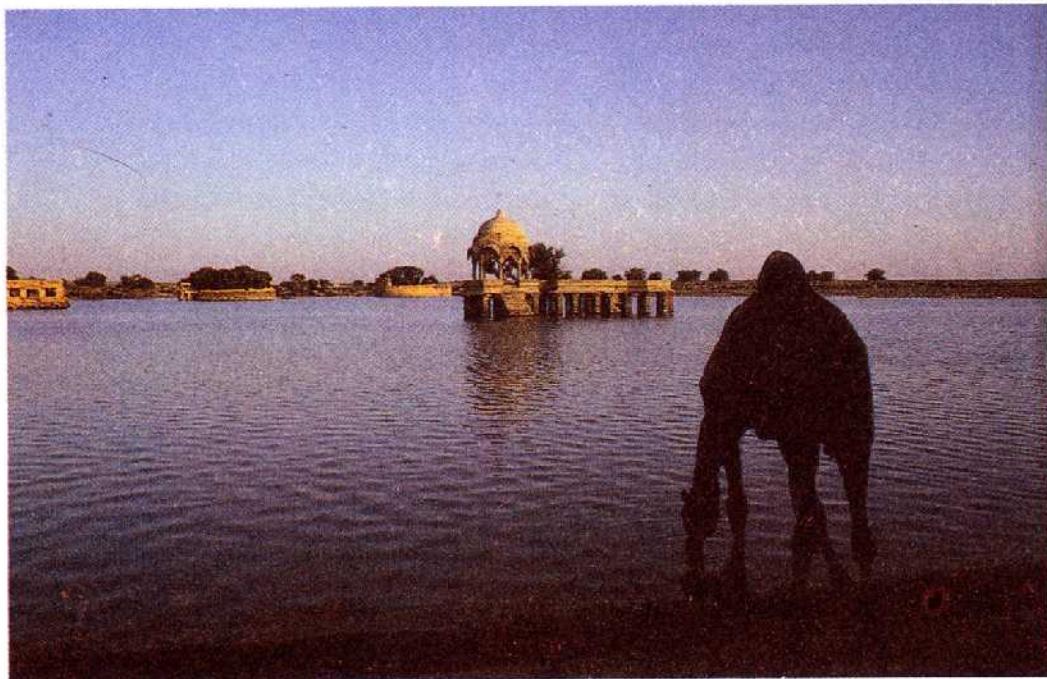
घड़सीसर, जैसलमेर

बाल-विवाह के विरुद्ध कानून बनवाने वाले समाज सुधारक श्री हरबिलास शारदा ने अपनी एक पुस्तक 'अजमेर : हिस्टारिकल एंड डिस्क्रिप्टिव' में अजमेर, तारागढ़, अन्नासागर, विसलसर, पुष्कर आदि पर विस्तार से लिखा था। सन् १९३३ के अक्टूबर में अजमेर में अखिल भारतीय स्वदेशी औद्योगिक प्रदर्शनी लगी थी। प्रदर्शनी समिति के अध्यक्ष श्री हरबिलास शारदा ही थे। कई लोगों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि इस विषय पर लगी प्रदर्शनी में अजमेर के अन्नासागर नामक तालाब पर विशेष जानकारी दी गई थी।

इसी क्षेत्र में पानी और गोचर को लेकर काम कर रहे श्री लक्ष्मणसिंह राजपूत से हमें यहां के लगभग हर गांव में बंजारों के द्वारा बनाई गई तलाइयों की सूचना मिली और फिर उनके साथ की गई यात्राओं में इन्हें देखने का अवसर भी। यहां इन्हें दंड-तलाई कहते हैं। इन सब तलाइयों के किनारे दंड, यानी स्तंभ लगे हैं बंजारों के। संभवतः इसी कारण इनको इस नाम से याद रखा गया है। श्री लक्ष्मणसिंह ऐसी तलाइयों की टूट-फूट को ठीक करने का भी अभियान चला रहे हैं। उनका पता है : ग्राम विकास नवयुवक मंडल, ग्राम लापोडिया, बरास्ता दूदू, जयपुर।

जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर के आंकड़े हमें इन जिलों के गजेटियरों और सन् १९८१ की जनगणना रिपोर्ट से मिले हैं। इन्हीं में हमने मरुभूमि का वह डरावना रूप देखा है जो सारे योजनाकारों के मन में बुरी तरह व्याप्त है।

जैसलमेर के तालाबों की प्रारंभिक सूची हमें श्री नारायण शर्मा की पुस्तक 'जैसलमेर' से मिली थी। इसके प्रकाशक हैं : गोयल ब्रदर्स, सूरज पोल, उदयपुर। फिर हर बार इस सूची में दो-चार नए नाम

जुड़ते गए हैं। हम आज भी शहर की पूरी सूची का दावा तो नहीं कर सकते। मरुभूमि के इस भव्यतम नगर में हर काम के लिए तालाब बने थे। बड़े पशुओं के लिए तो थे ही, बछड़ों तक के लिए अलग तालाब थे। बछड़े को बड़े पशुओं के साथ दूर तक चरने नहीं भेजा जाता। इसलिए उनके तालाब शहर के पास ही बने थे। एक जगह तीन तलाई एक साथ थीं– इस जगह का नाम ही तीन तलाई पड़ गया था। आज इन्हें मिटा कर इनके ऊपर इंदिरा गांधी स्टेडियम खड़ा है।

जैसलमेर के तालाबों को समझने में हमें श्री भगवानदास माहेश्वरी, श्री दीनदयाल ओझा, श्री ओम थानवी और श्री जेठूसिंह भाटी से बहुत सहायता मिली है। ओझाजी और भाटीजी ने तो हमें सचमुच उंगली पकड़ कर इनकी बारीकियां दिखाई-समझाई हैं।

घड़सीसर, गड़सीसर, गड़ीसर– नाम घिसता है, घिस कर चमक देता है। यह तालाब समाज के मन में तैरता है। अनेक नाम, अनेक रूप। यह जैसलमेर के लिए गर्व का भी कारण है और घमंड का भी। कोई यहां ऐसा बड़ा काम कर दे, जो उसकी हैसियत से बाहर का हो, तो उस काम का सारा श्रेय कर्ता से छीन कर गड़ीसर को सौंप देने का भी चलन रहा है– "क्या गड़ीसर में मुंह धो आया था ?" और यदि कोई डींगें हांक रहा हो तो उसे भी जमीन पर उतारने के लिए कोई कह देगा, "जा गड़ीसर पोणी स मांडो धो या।" जा, गड़ीसर के पानी से मुंह तो धो कर आ जरा।

लोग गड़ीसर और उसे बनाने वाले महारावल घड़सी को आज भी इतना मानते हैं कि किसी भी प्रसंग में बहुत दूर से यहां नारियल चढ़ाने आते हैं। महारावल घड़सी की समाधि पाल पर कहां है, इसे उनके वंशज भले ही भूल गए हों, लोगों को तो आज भी मालूम है।

कहते हैं आजादी से पहले तक गड़ीसर के लिए शहर में अनुशासन भी खूब था। इस तालाब में एक अपवाद को छोड़ नहाना, तैरना मना था – बस पहली बरसात में सबको इसमें नहाने की छूट होती थी। बाकी पूरे बरस भर इसकी पवित्रता के लिए आनंद का एक अंश, तैरने, नहाने का अंश थोड़ा बांध कर रखा जाता था।

महारावल घड़सी

आनंद के इस सरोवर पर समाज अपनी ऊंच-नीच भी भुला देता था। कहीं दूर पानी बरसने की तैयारी दिखे तो मेघवाल परिवारों की महिलाएं गड़ीसर की पाल पर अपने आप आ जातीं, वे कलायण गीत गातीं, इंद्र को रिझाने। इंद्र के कितने ही किस्से हैं, न जाने किस-किस को रिझाने के लिए अप्सराएं भेजने के। लेकिन यहां गड़ीसर पर रीझ जाते थे स्वयं इंद्र। और मेघवाल परिवार की स्त्रियां इस गीत के लिए पैसा नहीं स्वीकार करती थीं। कोई उन्हें इस काम की मजदूरी या इनाम देने की भी हिम्मत नहीं कर सकता था। स्वयं महारावल, राजा

उन्हें इस गीत के बाद प्रसाद देते थे। प्रसाद में एक पसेरी गेहूं और गुड़ होता था। यह भी सब वहीं पाल पर बांट दिया जाता था।

गड़ीसर में कहां-कहां से कितना पानी आता है, यह समझ पाना कठिन काम है। रेत का कण-कण रोककर पानी की एक-एक बूंद गड़ीसर की तरफ बह सके इसके लिए मीलों लंबी आड़ (एक तरह की मेंडबंदी जो पानी को एक तरफ से मोड़ कर लाती है) भी बनाई गई थी। तालाब के नीचे बने थे अनेक बेरे यानी कुएं। और कभी इन बेरों तक की प्रशंसा में संस्कृत और फारसी में पंक्तियां लिखी गई थीं।

आज गड़ीसर में नहर का पानी दूर पाइप से लाकर डाला जा रहा है। यह विवरण लिखते-लिखते सूचना मिली कि जो पाइप लाइन टूट गई थी, वह अब फिर ठीक हो गई है और गड़ीसर में नहर का पानी फिर से आने लगा है। पर पाईप लाइन का कोई भरोसा नहीं। लिखते-लिखते ठीक हो जाने वाली पाइप लाइन, पढ़ते-पढ़ते फिर से टूट सकती है!

बाप के तालाब की यात्रा बीकानेर की संस्था उरमूल ट्रस्ट के श्री अरविंद ओझा की मदद से की गई। बाप की कहानी हमें उस्ताद निजामुद्दीन से मिली है। उनका पता है : बाल भवन, कोटला रोड, नई दिल्ली।

जसेरी का जस हमने श्री जेठूसिंह भाटी से सुना था। फिर श्री भाटी के सौजन्य से ही इस भव्य तालाब के दर्शन हो सके। और जगहों पर तालाब सूख जाते हैं, उनके आसपास के कुएं चलते रहते हैं, लेकिन यहां आसपास के कुएं सूख जाते हैं, जसेरी में पानी बना रहता है। यहां पास ही वन विभाग की एक पौधशाला भी है। उनका पानी का अपना प्रबंध भी गर्मी में जवाब दे जाता है तो वे दूर जसेरी के पानी से अपने पौधों को टिकाए रख पाते हैं।

जसेरी के प्रति भी लोगों का प्रेम अद्भुत है। श्री चैनाराम भील हैं। ऊंट और जीप से पर्यटकों को यहां-वहां घुमा कर अपनी जीविका चलाते हैं पर जसेरी जाने का कोई अवसर मिले तो बाकी सब काम छोड़ सकते हैं। उन्होंने जसेरी की टूट-फूट को कैसे ठीक किया जा सकता है, इस पर काफी सोचा-विचारा है। यह सारा नक्शा कागज पर नहीं, उनके मन में है।

जसेरी पर गांधी शांति केंद्र, हैदराबाद और गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली ने एक सुंदर पोस्टर भी प्रकाशित किया है।

जल और अन्न का अमरपटो

खडीनों की प्रारंभिक जानकारी हमें जैसलमेर में पालीवालों के उजड़े हुए गांवों में श्री किरण नाहटा और जैसलमेर जिला खादी ग्रामोदय परिषद के श्री राजू प्रजापत के साथ घूमते हुए मिली थी। बाद में इसे बढ़ाया पानी मार्च के श्री अरुण कुमार और श्री शुभू पटवा ने। जैसलमेर की कुछ प्रसिद्ध खडीनों के चित्र वयोवृद्ध गांधीवादी श्री भगवानदास माहेश्वरीजी ने भिजवाए। और आगे विस्तार से इस विषय को समझने का मौका मिला श्री दीनदयाल ओझा, श्री जेठूसिंह भाटी और जैसलमेर जिला खादी ग्रामोदय परिषद के श्री चौइथमल के साथ की गई यात्राओं से।

टोडा रायसिंह के बांध की चक्कियां

जोधपुर में ग्रामीण विज्ञान समिति संस्था की ओर से नई खडीनों को बनाने का काम हुआ है। पता है : पो. जेलू गगाड़ी, जोधपुर।

ज्ञानी और सीधे-सादे ग्वाले के बीच का संवाद हमें जेठूजी से मिला है। पूरा संवाद इस प्रकार है :

ज्ञानी कहते हैं :

सूरज रो तो तप भलो, नदी रो तो जल भलो
भाई रो तो बल भलो, गाय रो तो दूध भलो
चारों बातों भले भाई, चारों बातों भले भाई

सूरज का तप अच्छा है, जल नदी का अच्छा है, भाई का बल भला है, और दूध गाय का अच्छा होता है। ये चारों बातें अच्छी ही होती हैं।

ग्वाला उत्तर देता है :

आंख रो तो तप भलो, कराख रो तो जल भलो
बाहु रो तो बल भलो, मां रो तो दूध भलो
चारों बातों भले भाई, चारों बातों भले भाई

तप तो आंख का, यानी अनुभव का काम आता है। पानी कराख यानी कंधे पर लटकती सुराही का, बल अपनी भुजा का ही काम आता है और दूध तो मां का ही अच्छा है भाई।

आधुनिक कृषि पंडित बताएंगे कि वर्षा के लिहाज से पूरा मरुस्थल गेहूं बोने लायक नहीं है। यह तो खडीन बनाने वालों का चमत्कार था कि यहां सैकड़ों वर्षों से गेहूं सैकड़ों मन कटता रहा। पालीवाल ब्राह्मणों ने जैसलमेर राज को अनाज और भूसे से लंबे समय तक सम्पन्न रखा था।

दईबंध यानी देवीबंध की जानकारी हमें श्री जेठूसिंह और श्री भगवानदास माहेश्वरी से मिली है। उस क्षेत्र में प्रकृति ने, देवी ने जितने भी ऐसे स्थल बनाए होंगे, उनमें से शायद ही कोई ऐसा होगा, जिसे समाज अपनी आंख के तप से देख न पाया हो। ये अमरपटो यहां चारों तरफ बिखरे हैं। पढ़-लिख गया समाज इन्हें पढ़ न पाए, यह बात अलग है।

भूण थारा बारे मास

इंद्र की एक घड़ी को अपने लिए बारह मास में बदलने वाले समाज की पहली झलक हमें बीकानेर के भीनासर गांव में गोचर भूमि में बने रामसागर नामक साठी कुएं से मिली। यहां हम श्री शुभू पटवा के सौजन्य से पहुंचे थे।

भूण और इंद्र का संबंध हमें श्री जेठूसिंह ने समझाया। न दिखने वाले पाताल पानी को देखने वाले सीरवी और फिर इतने गहरे कुएं खोदने वाले कीणियों की जानकारी श्री दीनदयाल ओझा से मिली। फांक-खुदाई का रहस्य समझाया श्री किशन वर्मा ने। उन्हीं से बारीक चिनाई की भी जानकारी मिली।
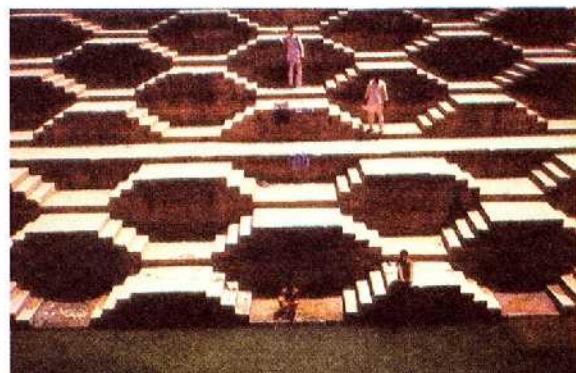
टोडा रायसिंह की बावड़ी

बावड़ियों, पगबाव और झालरा पर इस अध्याय में अलग से कुछ नहीं दिया जा सका है। लेकिन कुओं की तरह इनकी भी एक भव्य परंपरा रही है। यों तो बावड़ी दिल्ली के कनाट प्लेस तक में मिल जाएगी, लेकिन देश के नक्शे पर इनकी एक खास पट्टी रही है। इस पट्टी पर गुजरात, मध्यप्रदेश और राजस्थान आते हैं।

राजस्थान के इस वैभव का पहला दर्शन हमें चाकसू के श्री शरद जोशी ने कराया था। उन्हीं के साथ हम टौंक जिले की बावड़ी टोडा रायसिंह को

देख सके थे। उस बावड़ी की सीढ़ियों पर खड़े होकर हम जान सके कि आंखें फटी रह जाने का अर्थ क्या है। इस पुस्तक का मुखपृष्ठ इसी बावड़ी के चित्र से बनाया है। इसे गांधी शांति केंद्र, हैदराबाद और गांधी शांति प्रतिष्ठान ने एक पोस्टर की तरह भी छापा है। श्री शरद जोशी ने राजस्थान के अनेक शहरों में बनी और अब प्रायः सब जगह उजड़ रही बावड़ियों की जानकारी भी उपलब्ध करवाई। राष्ट्रदूत साप्ताहिक के १८ जून, १९८९ के अंक में श्री अशोक आत्रेय ने राजस्थान की बावड़ियों की लंबी सूची दी है। राष्ट्रदूत साप्ताहिक का पता है : सुधर्मा, एम. आई. रोड, जयपुर।

पिंजरो

चड़स, लाव और बरत से संबंधित अधिकांश सूचनाएं हमें श्री दीनदयाल ओझा से मिली हैं। बारियो को समाज से मिलने वाले सम्मान की जानकारी श्री नारायणसिंह परिहार ने दी है। उनका पता है : पो. भीनासर, बीकानेर। सूंडिया की जानकारी हमें जैसलमेर के बड़ा बाग में काम कर रहे श्री मघाराम से मिली है।

सारण पर चड़स खींचने वाले बैल या ऊंटों की थकान का भी ध्यान रखा जाता था। भूण के साथ एक और छोटी घिर्री जोड़ी जाती थी, जिस पर एक लंबा डोरा बंधा रहता था। बैलों की हर बारी के साथ यह डोरा लिपटता जाता था। पूरा डोरा लपट जाने से बैल जोड़ी को बदल देने की सूचना मिल जाती थी। पशुओं तक की थकान की इतनी चिंता रखने वाली यह पद्धति अब शायद चलन से उठ गई है। फिर भी पुराने शब्दकोशों में यह डोरा नाम से मिलती है।

फलोदी शहर के सेठ श्री सांगीदास के कुएं की पहली जानकारी हमें जयपुर के श्री रमेश थानवी ने दी थी। फिर इनकी बारीकियों में उतारा श्री मुरारी लाल थानवी ने। उनके पिता श्री शिवरतन थानवी ने सेठ सांगीदास परिवार के पुराने किस्से बताए। थानवी परिवार का पता है : मोची गली, फलोदी, जिला जोधपुर। उत्कृष्ट गजधरों ने जिस कुएं को बरसों पहले पत्थरों पर उतारा था, उसे कागज पर उतारने में अच्छे-अच्छे वास्तुकारों को आज भी पसीना आ जाता है। कुएं का प्रारंभिक नक्शा बनाने में हमें दिल्ली के वास्तुकार श्री अनुकूल मिश्र से सहायता मिली है। बीकानेर के भव्य चौतीना की जानकारी हमें श्री शुभू पटवा और श्री ओम थानवी से मिली है। शहर में इस दर्जे के और भी कुएं हैं। ये सभी पिछले २००-२५० बरस से मीठा पानी दे रहे हैं। प्रायः सब इतने बड़े हैं कि उनके नाम पर ही पूरा मोहल्ला जाना जाता है।

मरुभूमि में कुओं से सिंचित क्षेत्र भी काफी रहे हैं। १७वीं सदी के इतिहासकार नैणसी मुहणोत ने अपनी ख्यात में जगह-जगह कुओं की स्थिति पर प्रकाश डाला है। गांव की रेख यानी सीमा में पानी की स्थिति, खेती, सिंचाई के साधन, कुओं, तालाबों की गिनती और पानी कहां कितना गहरा था, इसकी भी जानकारी मिलती है। 'परगना री विगत' नामक उनके ग्रंथ में सन् १६५८ से १६६२ तक जोधपुर राज्य के विभिन्न परगनों की सूचनाएं हैं। इस विषय पर अलीगढ़ विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के प्राध्यापक श्री भंवर भादानी ने काफी काम किया

है। कुछ अन्य जानकारी श्री मनोहरसिंह राणावत की पुस्तक इतिहासकार मुहणोत नैणसी और उनके इतिहास ग्रंथ, प्रकाशक : राजस्थान साहित्य मंदिर, सोजती दरवाजा, जोधपुर से भी मिल सकती है।

कुओं की जगत पर अक्सर काठ का बना एक पात्र रखा रहता है। इसका नाम ही है काठड़ी। काठड़ी बनवा कर कुएं पर रखना बड़े पुण्य का काम माना जाता है और काठड़ी को चुराना, तोड़ना-फोड़ना बहुत बड़ा पाप। पाप-पुण्य की यह अलिखित परिभाषा समाज के मन में लिखी मिलती है। परिवार में कोई अच्छा प्रसंग, मांगलिक अवसर आने पर गृहस्थ काठड़ी बनवा कर कुएं पर रख आते हैं। फिर यह वहां वर्षों तक रखी रहती है। काठ का पात्र कभी असावधानी से कुएं में गिर जाए तो डूबता नहीं, फिर से निकाल कर इसे काम में लिया जा सकता है। काठ के पात्र में जात-पांत की छुआछूत भी तैर जाती है।

शहरों में कूलरों पर रखे, जंजीर से बंधे दो पैसे के प्लास्टिक के गिलासों से इसकी तुलना तो करें।

अपने तन, मन, धन के साधन

राजस्थान में विशेषकर मरुभूमि में समाज ने पानी के इस काम को गर्व से, एक चुनौति की तरह नहीं, सचमुच विनम्रता के साथ एक कर्तव्य की तरह ही उठाया था। इसका साकार रूप हमें कुंई, कुएं, टांके, कुंडी तालाब आदि में मिलता है। पर इस काम का एक निराकार रूप भी रहा है। यह निराकार रूप ईंट पत्थर वाला नहीं है। वह है स्नेह और प्रेम का, पानी की मितव्ययिता का। यह निराकार रूप समाज के मन के आगौर में बनाया गया। जहां मन तैयार हो गया वहां फिर समाज का तन और धन भी जुटता रहा। उसके लिए फिर विशेष प्रयास नहीं करने पड़े– वह अनायास होता रहा। हमें राजस्थान के पानी के काम को समझने में इसके साकार रूप के उपासकों से भी मदद मिली और इसके निराकार रूप के उपासकों से भी।

बोत्सवाना, इथोपिया, तंजानिया, केन्या, मलावी आदि देशों में आज पीने का पानी जुटाने के लिए जो प्रयत्न हो रहे हैं, उनकी जानकारी हमें मलावी देश के जोम्बा शहर में सन् १९८० में हुए एक सम्मेलन की रिपोर्ट से मिली है। रिपोर्ट कुछ पुरानी जरूर पड़ गई है पर आज वहां स्थिति उससे बेहतर हो गई हो– ऐसा नहीं लगता। 'प्रगति' हुई भी होगी तो उसी गलत दिशा में। उस सम्मेलन का आयोजन मलावी सरकार ने कैनेडा की दो संस्थाओं के साथ मिलकर किया था। ये संस्थाएं हैं : इंटरनेशनल डेवलपमेंट रिसर्च सेंटर और कैनेडियन इंटरनेशनल डेवलपमेंट एजेंसी।

कोई सौ देशों में फैले मरुप्रदेशों में पानी की स्थिति सुधारने के प्रयासों की कुछ झलक हमें अमेरिका के वाशिंगटन शहर में स्थित नेशनल एकेडमी ऑफ साईंसेस की ओर से सन् १९७४ में छपी पुस्तक 'मोर वाटर फॉर एरिड लैंड्स; प्रामिसिंग टेक्नालॉजीस एंड रिसर्च अपर्चुनिटीस' से मिली है। इनमें नेगेव मरुप्रदेश (अब इजरायल में है) में वर्षा जल के संग्रह के हजार, दो हजार बरस पुराने भव्य तरीकों का उल्लेख जरूर मिलता है पर आज उनकी स्थिति क्या है, इसकी ठीक जानकारी नहीं मिल पाती। आज तो वहां कंप्यूटर से खेती और टपक सिंचाई का इतना हल्ला है कि हमारे देश के, राजस्थान, गुजरात तक के नेता, सामाजिक कार्यकर्त्ता उससे कुछ सीखने और उसे अपने यहां ले आने के लिए इजरायल दौड़े जा रहे हैं।

ऐसी पुस्तकों में प्लास्टिक की चादरों से आगौर बनाकर वर्षा जल रोकने की पद्धतियों का बहुत उत्साह से विवरण मिलता है। कहीं मिट्टी पर मोम फैलाने जैसे तरीकों को प्लास्टिक से सस्ता और

'बेहतर' भी बताया जाता है !

उम्दा तरीके उन क्षेत्रों में हैं ही नहीं, ऐसा कहते हुए डर ही लगता है । एक तरीका जरूर मिलता है। वह है खड़े के बजाए आड़े कुएं । ये ईरान, ईराक आदि क्षेत्रों में बनते रहे हैं । इन्हें क्वंटा कहा जाता है। इसमें एक पहाड़ी की तिरछी भूजल पट्टी के पानी को आड़ी खुदाई कर एकत्र किया जाता है ।

राजस्थान में यह सब काम अपनी साधना और अपने साधनों से हुआ है और समाज को इसका फल भी मिला है ।

सीमेंट के बदले यहां सारा काम गारे चूने से किया जाता रहा है । दोनों की तुलना करके देखें :

गारे-चूने के काम को तराई नहीं चाहिए । सीमेंट में तराई चाहिए लगाने के बारह घंटे के बाद कम से कम चार दिन तक । सात दिन तक चले तो और अच्छा । तराई न मिले, यानी पानी से इसे तर न रखा जाए तो सीमेंट की चिनाई फटने लगती है, उसमें दरारें पड़ जाती हैं ।

वैसे तो चूना और सीमेंट एक ही पत्थर से बनते हैं पर इनको बनाने का तरीका इनका स्वभाव भी बदल देता है । सीमेंट बनाने के लिए मशीनों से उस पत्थर की बेहद बारीक पिसाई की जाती है और उसमें एक विशेष रेतीली मिट्टी भी मिला दी जाती है । लेकिन गारा-चूना बनाने के लिए इस चूना पत्थर को पहले ही पीसने के बदले उसे भट्टियों में बुझाया जाता है । फिर गरट या घट्टी में रेत और बजरी के साथ मिलाकर पीसा जाता है ।

इस एक ही तरह के पत्थर के साथ होने वाले अलग-अलग व्यवहार उसके स्वभाव को भी बदल देते हैं ।

सीमेंट पानी के साथ मिलते ही सख्त होने लगती है । इसे अंग्रेजी में सैटिंग टाईम कहा जाता है । यह आधे घंटे से एक घंटे के बीच माना जाता है । यह प्रक्रिया दो से तीन वर्ष तक की अवधि तक चलती रहती है । उसके बाद सीमेंट की ताकत उतार पर आने लगती है । सख्त होने, जमने के साथ-साथ सीमेंट सिकुड़ने भी लगती है । किताबें इस दौर को तीस दिन का बताती हैं लेकिन व्यवहार में लाने वाले इसे तीन दिन का मानते हैं । अपने ठीक रूप में सिकुड़कर, सख्त होकर फिर सीमेंट किताब के हिसाब से ४० बरस तक और व्यवहार के हिसाब से ज्यादा से ज्यादा १०० बरस तक टिकती है ।

लेकिन चूने के स्वभाव में बहुत धीरज है । पानी से मिलकर वह सीमेंट की तरह जमने नहीं लगता । गरट में ही वह एक-दो दिन पड़ा रहता है । जमने, सख्त होने की प्रारंभिक क्रिया दो दिन से दस दिन तक चलती है । इस दौरान उसमें दरारें नहीं पड़तीं, क्योंकि यह जमते समय सिकुड़ता नहीं, बल्कि फैलता जाता है । इसीलिए सीमेंट की तरह इसे जमते समय तर नहीं रखना पड़ता है । इस दौरान यह फैलता है, इसीलिए इसमें दीमक भी नहीं जा पाती । समय के साथ यह ठोस होता जाता है और इसमें चमक भी आने लगती है । ठीक रख-रखाव हो तो इसके जमने की अवधि, दो-चार बरस नहीं २०० से ६०० बरस तक होती है । तब तक सीमेंट की पांच-सात पीढ़ियां ढह चुकती हैं ।

एक और फर्क है दोनों में । चूने का काम पानी के रिसने की गुंजाइश नहीं छोड़ता और सीमेंट पानी को रोक नहीं पाती– हर शहर में बने अच्छे से अच्छे घरों, इमारतों की दीवारें, टंकियां इस बात को जोर से बताती मिल जाएंगी ।

इसीलिए चूने से बनी टंकियों में पानी रिसता नहीं है । ऐसे टांके, कुंड, तालाब दो सौ, तीन सौ बरस तक शान से सिर उठाए मिल जाएंगे ।

समाज और राष्ट्र के निर्माण में गारे-चूने की, उस काम के बारीक शास्त्र को जानने वाले चुनगरों की; अपने तन, मन और धन के साधन साध सकने वालों की आज भी जगह है ।

जलदीप,
मूलसागर,
जैसलमेर

शब्दसूची

अ

आ

इ

ई

उ

ऊ

ए

ओ

क

ख

ग

घ

च

छ

ज

झ

ट

ठ

ड

ढ

त

थ

द

ध

न

प

फ

ब

भ

म

य

र

ल

व

श

स

ह

क्ष

त्र

कहते हैं...
मरुभूमि के समाज को
श्रीकृष्ण ने वरदान दिया
कि यहां कभी जल का अकाल
नहीं रहेगा।
प्रसंग महाभारत युद्ध
समाप्त होने का है।

लेकिन मरुभूमि का समाज इस वरदान को पाकर हाथ पर हाथ रखकर नहीं बैठ गया। उसने अपने को पानी के मामले में तरह-तरह से संगठित किया। गांव-गांव, शहर-शहर वर्षा की बूंदों को सहेजकर रखने के तरीके खोजे और जगह-जगह इनको बनाने का एक बहुत ही व्यावहारिक, व्यवस्थित और विशाल संगठन खड़ा किया। इतना विशाल कि पूरा समाज उसमें एक जी हो गया। इसका आकार इतना बड़ा कि वह सचमुच निराकार हो गया।

मरुभूमि के समाज ने भगवान के वरदान को एक आदेश की तरह शिरोधार्य कर लिया।